UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186525

UNIVERSAL
LIBRARY

बे

रं

ग

बेरंग

प्रभाकर माचवे

नव साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-१

प्रथमावृति
१९५६

दो रुपया आठ आना

प्रकाशक :
नव साहित्य प्रकाशन
९२७६—मुलतानी ढ़ाँडा,
नई दिल्ली-१

मुद्रक—सूरज मल, ८३६३ सब्जी मण्डी, दिल्ली द्वारा कम्पोज़ होकर
जनता फाइन प्रिंटिंग प्रेस, गली अहीरां, हाथी खाना, दिल्ली में मुद्रित

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
१. भूमिका	७
२. बेरंग	१३
३. एक, दो, तीन	१९
४. एक और अनेक	२७
५. सत्य और न्याय के नाम पर	३०
६. दरबार ड्रैस	३९
८. पर	४६
८. करतार ने कविता छोड़ दी	५१
९. देसी–विलायती	५५
१०. तीन गज़ कपड़े ने कहा	६३
११. हड्डियाँ	७२
१२. कान	७८
१३. ध्रुव	८२
१४. मध्यन्तर	८६
१५. हृदय परिवर्त्तन	९२
१६. +	९५
१७. स्वर्ग और नरक	१०१

१८. रक्षा १०७
१९. युद्धस्य वार्ता रम्या १११
२०. जी—ना ११५
२१. सौ बरस जीओ १२०
२२. सूत्र १२५
२३. तन और मन १३०
२४. धुआँ १३५
२५. मैदान की राम कहानी १३९
२६. जंगलू मिट जायेंगे १४५
२७. प्रकाशक से साबका १४८

भूमिका

किसी भी नये शहर में चले जाइये ? स्टेशन पर ही सैंकड़ों पोस्टर होंगे और ज़रा बाहर निकलते ही पचासों बड़े-बड़े विज्ञापन नयी फिल्मों के, साबुन के, सिगरेट के, अखबारों के, ठहरने के होटलों के, किसी राजनैतिक सभा या लेक्चर के, पहलवानों के दंगल और सरकस के, धार्मिक यज्ञ के और अखंड राम-नाम-कीर्तन के, जलसे के, नाच के, यहाँ तक, कि गुप्त बीमारियों और पेटेंट रामबाण दवाओं के भी आपको इश्तिहार ही इश्तिहार नज़र आयेंगे और मानों आँखों को भड़कीले, नंगे, उभरे, गंदे विज्ञापनों से अपमानित करना काफी न समझकर, आपके कर्णरंध्रों को भी पवित्र करते हुए होटलों से सिनेमा की भद्दी, कुरुचि-पूर्ण, गीतावली के रेकार्डों का भोंपूकरण अपनी अमृत-वर्षा निरन्तर करता रहेगा, और जहाँ पकौड़ी तली जा रही है वहाँ रेकार्ड बजकर चिल्लुँक उठेगा—'आ जा मेरे बालमा, तेरा इंतज़ार है।' और जहाँ यज्ञोपवीत जैसा संस्कार हो रहा है, वहाँ 'गोरी ! गंगा के पार मिलना' का मधुर सांस्कृतिक द्विगान सुनाई देगा और जहाँ बड़ा अच्छा मंगल-मधुपर्क हो या विवाह हो वहाँ 'घर घर में दिवाली, मेरे घर में अंधेरा' का रिकार्ड बज रहा होगा ! बहरहाल, ये सब जो सिनेमा-किन्नर और किन्नरियों का यह सस्ता-साहित्य-संस्करण इस सुलभ रूप में अयाचित ढंग से वितरित होता रहता है कि किसी भी नगर में आप उससे बच नहीं सकते ?

परन्तु आप कहेंगे 'व्यापार व्यापार है' (बिज़िनेस इज़ बिज़िनेस !) उसकी अपनी मर्यादा है और अपना अलग नीतिशास्त्र है। परन्तु दुर्भाग्य

इस युग का कि यह विज्ञापन-तत्त्व, यह विज्ञापन-कीटाणु बड़ी सूक्ष्मता से हमारे जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी भोंड़े ढंग से घुस आए हैं। और वे बहुत भद्दे लगते हैं। साहित्य-कला-संस्कृति जैसे क्षेत्रों में, जहाँ कि शील और संकोच को कभी बड़ा मान था—'विद्या विनयेन शोभते!' किसी जमाने में कहते थे?—पर आज-कल तो विद्या भी आपकी खोपड़ी पर चौकोर टोपी और कंधों पर काला-लाल-बेंजनी चोगा और रंगीन रेशमी फीतों के उपाधि-वेश से आँकी जाती है? मान लीजिये आप बड़ा अच्छा लिखते है; और बीसियों बरसों से लिखते आ रहे हैं। एकान्त साहित्य-साधना करते है; परन्तु आपको कौन पूँछता है, जबतक कि आपके किताबों के 'सेट' न हों (चाहे वे बिकते न हों) और जब तक आपके ऊपर दो-चार लेखादि, प्रशस्तियाँ-मूल्याँकन (?) आदि के ढंग पर न लिखे जायँ। कबीर के जमाने में 'साधु न चले जमात' था अब तो 'सिंहों' की पलटनें होने लगी हैं; 'लालो' की आढ़तें की आढ़तें या 'कम्यून' के 'कम्यून' होते हैं और 'हंसों' का ती कौआ-रोर भी बढ़ गया है। आजकल कागा हंस की चाल नहीं चलते; हंस ही काक-दृष्टि से व्रणसंशोधन; और नीर-क्षीर-विवेक की अपेक्षा पिंड-स्पर्शन करने लगे हैं। सो साहित्य में विज्ञापन का सबसे सीधा नुस्खा यह है, कि आप चार तुकदार गीत लिखिए, पाँच-सात शिष्यगण, चेला-चपाटी जमा कीजिए, उनकी रचनाओं को आप सर्वश्रेष्ठ तथा शैले की टाँग तोड़नेवाली, ब्राउनिंग के कान काटने वाली कहिये—देखिये तुरन्त-फल मिलता है, वे भी आपको शेक्स्पीयर-कालिदास की कोटि में गिनने-गिनाने लगेंगे। और फिर यह 'परस्परं भावयंतः' की शृंखला, पीरो-मुरशिदकी इसलाह-बाज़ी का ताँता अनंत है...

कला के क्षेत्र में विज्ञापन और भी सुलभ है। 'आप आधुनिकवादी कलाकार हैं।' यानी गोल-टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों का कुछ ऐसा आल-जाल या घटाटोप आप ही कागज़-कॅनवास पर उतारते हैं, कि आप ही समझें या

खुदा ही समझे। 'सार्डेलो' के लेखक से जब अर्थ के बारे में पूछा गया था, तब उसने कहा, कि जब मैंने लिखा तब मैं और भगवान दो अर्थ जानते थे; अ : मैं भी भूल गया। अब अर्थ पूछने स्वर्गयात्रा की तैयारी कीजिये। सो कला के क्षेत्र में तो साधना जब रही हो तब रही हो, आजकल तो विज्ञापन और प्रचार का नाम ख्याति है। जितने कम लोग समझें, उतनी ऊँची कला। अभिजात संगीत, शास्त्रीय नृत्य, अमूर्त चित्र-कला, विद्रूप शिल्प, सकेतवादी कविता और अर्थमय स्थापत्य सब इसी कोटि की वस्तुएँ हैं। कलाकृति की अपेक्षा कलाकार का महत्त्व बढ़ गया। अतः बेचारे या बेचारी की वेशभूषा, बाल सँवारने से लगाकर एड़ी रंगने तक या जूतों के आकार तक कला 'फूट-फूटकर' झलकने और रोने लगी।

यही विज्ञापन-प्रियता केवल साहित्य-कला-विद्या के ही नहीं, परन्तु अब विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में भी यह चीज़ घुसने लगी। यह बड़ी ही भयावह बात है। धर्म वाले कभी निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करते हों, हिमालय में गुहावास करते हों तब करते हों; परन्तु अब तो अच्छे मोटे-तगडे, तुंदियल, चिकने-चुपड़े, कानों में बाली पहिनने और इत्र का फाहा खोंसने वाले लोग ही धर्म का 'ब्लैकमार्केट' मज़े से चला रहे हैं, जिनकी ज़मींदारियाँ छिन रही हैं वे ज़मींदार, जिनकी रियासतें विलयन में आ गयीं वे राजे-महाराजे और कुछ ऐसे मूर्ख संस्कृति-पुनरुज्जीवन-वादी, जो पुनः आर्यों का आदियुग इस 'भरतखंडे जम्बूद्वीपे' १९५१ में लाने का सपना लेते हैं -- वे सब इस धर्मातीत या धर्मनिरपेक्ष, ऐहिक, लौकिक (सेक्युलर) राज्य में, एकदम धर्मप्राण बनना चाहते हैं। क्या मुसीबत है? यहाँ विज्ञापन का ढग और होता है। मुँह में राम, बगल में छुरी न सही तो विषाक्त सांप्रदायिक प्रचार करने वाला कोई अखबार ही सही? रामनामी ओढ़ने पर नाखून और मांसाहारी दाँत छिप जाते हैं। जप-माला-छापा-तिलक कछुए की पीठ की तरह ढाल

बन जाती है। अब तो गंगा किनारे माघ-मेले में पंडालोग माइक्रोफोन लगाने लगे हैं। कुछ दिन बाद कृष्णलीला का मूवी सिनेमा भी बोलने लग जायेगा। सबसे अधिक चलते हैं 'हरहर महादेव !', 'गंगावतरण', 'शंकर पार्वती' जैसे धार्मिक चित्र; और अकेली रामायण पर ही निम्न चित्र बने हैं और पता नहीं और कितने बनेंगे ? सीता, रामराज्य, राम-विवाह. सीता-स्वयंवर, रामभक्त-हनुमान, लंकादहन, भरत-मिलाप, रामजन्म, रामायणी आदि और इसके अतिरिक्त तुलसीदास।

फिर भी हमारे भक्तिप्राण लोग हैं, कि वे हमारे धर्म को प्रचार से दूर, परम मर्यादा और शील-संयम का गहवारा मानते हैं। मानने वाले मानें ! हम तो देखते हैं, कि प्रचार का निकृष्ट रूप विज्ञापन अब विज्ञान के क्षेत्र में भी घुसने लगा। अज्ञान को झिलमिले कागज़ से लपेटकर, ऊपर तर्क का फीता लगा दीजिये; भड़कीले दुराग्रह का लेबल चिपका दीजिये; और इस दुनिया में विज्ञान के नाम पर उसे बेच दीजिये। यह बड़ी मज़े की बात है, कि हमारे वैज्ञानिक तो विज्ञापन से दूर रहें; परन्तु उनको ये विज्ञापन वाले चुप नही बैठने देंगे। बेचना है कोई 'पेन' या 'बनस्पति घी' पर उसपर राय होगी वैज्ञानिकों की। विज्ञापन के इस युग में देखना है कौन-सी चीज़ पण्य-वस्तु नहीं बन जाती। कल तक जो आचार का आदर्श था, वह भी विज्ञापन का उत्कर्ष स्थान बनने लग गया। भगवान ! तुम्हें भी विज्ञापन वालों ने नही छोड़ा और एक 'परमेश्वर हेअर कटिंग सलून' मैंने देखा है !

इस सब विडंबना को देखकर लगता है कि जैसे हर कोई अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग बजाने पर तुला है। हर कोई अपनी ही तूती बजाने में लगा है; और हर किसी को अपनी ही चर्चा करने के अलावा दूसरा विषय नहीं है। ऐसे समय मैं यह कहकर अपनी पिटारी नहीं बंद करना चाहता, कि यह अपनी लेख की दुकान बढ़ा ली ! यह भी मेरे नामका एक साइनबोर्ड न सही, तो मेरे हाथ पर

खुद के हाथों से अंकित हरा गूंदना है। मैं उस दिन सचमुच घबड़ा उठा जब मानवी हृदय की पवित्रतम थाती प्रेम को भी हमारे एक छुटभैये कवि विज्ञापित करने लगे और अपना दिल अपने हाथों तोड़कर जैसे किसी प्रेमिका के बटनहोल में या कहिये कि जूड़े में खोंसने के लिए ललचाये फिरने लगे, तब तो इस दुकानदारी की हद हो गई। और यह विज्ञापन वाली कविता याद आ गई; जिसमें रामलाल का साला चाय पीने आता है। कविता भी जब विज्ञापन बन गई, तब मराठी में पत्र का अन्तिम जुमला दुहराने का मन हुआ : 'लोभ असावा हीं विज्ञापना !'

बेरंग

...रंगी को ना-रंगी कहतै,सुन-सुन कबिरा रोया !

आज एक बेरंग खत आ गया। न सिर्फ वह बेरंग इस माने में था, कि डाकखाने को उसके दुगुने दाम हमारी जेब से जाने वाले थे; मगर अदर भी कुछ मामला फीका-फीका ही था। पत्र में हार्दिकता की कमी थी और रंग-रूप-रस-हीन, निरा शाब्दिक और बौद्धिक रंग जमाने की कोशिश थी। शब्दों में से अगर यह रंगीनी-ही उड़ जाये तो फिर क्या बचे ? महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने कहा बहुत सूखे ढंग से है, मगर शब्दों में निहित इन 'विच्छित्ति' के बारे में ही है—

सुरम्यता ही कमनीय कांति है
अमूल्य आत्मा रस है मनोहर
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है
नितांत निष्कर्ष यही, यही, यही !

इस कविता की अंतिम पंक्ति एकदम बेरंग है। मगर हमारे एक प्रगतिवादी आलोचक मित्र ने इसी कोटि की एक पंक्ति टी० एस० ईलियट के 'राख वुधवर' काव्य में से निकालकर बतलाई—

That's all, that's all. that's all.

बस, बस, बस, हो चुकी कविता। यों ही बेरंग रचना करने को आजकल 'आधुनिकतावाद' कहते हैं, क्यों ? परन्तु कविता तो है, 'चित्र-राग'। उसमें 'सतरंगिनीपन' न हो तो फिर 'इन्द्रधनुष्य' नाम से तीन किताबें पहिले ही होते हुए सप्तवर्ण और क्यों निकलें ? वैसे आदि-रंग

दो हैं : काला और गोरा। इस पर कम मज़ाक नहीं किये गये। कल परसों अखबारों में गोरे न्याय का एक नमूना पढ़ा : कि एक काले हब्शी को एक गोरी अमरीकन महिला का अधरस्पर्श करने के अपराध पर जिंदा जला दिया गया; दूसरी ओर एक अंग्रेज ने एक हब्शिन पर बलात्कार किया; जिस पर उसे बीस डालर 'ज़रीमाना' हुआ और वह भी किश्त से वह भर सकताहै—वह छूट गया। सूरदास भले कहते रहे हों 'कारे की प्रीत' विपरीत कुछ भी, यहां तो उलटा मामला है ! गोरों को सदा ही 'सर्वत्र' कन्सेशन या छूट है। कबीरदास जी का पद है, और किसी के बारे में मती समझना, 'माया' के बारे में है—'अँधेरे में ठाड़ी गोरी का कर सू !' सूर ने कहा है—'ढरि-ढरि बूंद परत कंचुकि पर मिलि अँजनसो कारे।' नीचे का दोहा वियोगी हरि जी का है, यह बात आप भूल जाइये, और पढ़िये—

उन प्यारे गोरेनु कौ गाहकु सब संसारु
हम न्यारे कारेनु कौ कारौ कान्ह अधारु !

इलाचंद्र जोशी की 'विजनवती' में मृत्युदेवि का आवाहन है—

आज तनिक तुम बोलो—मृत्यु देवि मरु रानी
निज घूँघट पट खोलो—निबिड़ कृष्णा-असमानी !

ऐसी कृष्णा से कृष्णभगवान ही बचायें ! मगर क़ैस के लिये लैला (अरबी शब्द-मूल अर्थ : अमावस की घनी तिमिराच्छन्न कृष्ण-निशा) ही 'नूर' का पूर है; सो क्या करें ? यह तो अपना-अपना रंग है ! कहीं रंग उड़ता है; कहीं जमता है; कहीं निखरता है ! इसी पर तो संसार के सारे उपन्यासों के पोथन्ने रंगे गये हैं। रंग चढ़ाने से कुछ नहीं होता —सूरदास 'काली कमरी चढ़े न दूजो रंग।' कालाबाज़ार करके ऊपर सफेद टोपी पहनने से कुछ नहीं होता; जो रंग चढ़ता है, सो तो और ही होता है। वह उतरता नहीं। जैसे—'गिरिधर के रंग-राती' गाने वाली मीरा !

कवियों का प्रिय रंग लाल जान पड़ता है। शायद इसका एक कारण यह हो सकता है, कि वह प्रत्यक्ष जीवन में इतना दुर्लभ है। मैं रूज़ और लिपस्टिक के युग की बात नहीं करता, रक्तचन्दन और मेंहदी के युग में भी यह 'जित देखूं तित लाल' का 'राग' था। कुछ नमूने देखिये—नन्ददास ने गाया था—'कृपा रंग रस ऐसा नैन राज रतनारे।' और अलाम के 'स्वेत स्याम-रतनार' पर तो कौन नहीं 'जियत-मरत-झुकि-झुकि परत' हो उठता है? एक संस्कृत कवि की मूंगे (विद्रुप) की कांति (छाया) वाले अधरों पर यह उक्ति कैसी रंगीन-नवीयत वाली है—

तवैष विद्रुमच्छायो मरुमार्ग तवाधरः।
करोतु कस्य नो मुग्धे! पिपासाकुलितं मनः॥

(हे मुग्धे! मूंगे के समान कान्तिवाला तेरा लाल ओंठ, वृक्षों की छाया से रहित मरुभूमि के मार्ग के समान है। यह किसके मन को प्यास से व्याकुल नही कर देता?)

अमीर खुसरों की पहेली है —स्याम बरन औ' राती नैना!
ऐ सखि, साजन? ना, सखि—मैना!

जब कि काव्य-विषय की मुखाकृति से रंग चू रहा हो, नृत्य गीत आदि का रंग बँधा हो, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में—'सखी, सचमुच आज जो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है!' ऐसी फागुन की रंगरलियाँ मची हों, कवि सोच रहे हों, कि 'लहलहात है हरित-गौर-स्यामल-रंग-रचों—तब सहसा किसी का यह कहना, कि यह तो सब रंगामेज़ी है, असली रंग तो कुछ और ही है, रंग में भंग होता है; रंग फक़ हो जाता है; यह जानकर कि यह तो सब रंग-दिखावा है—रंग बदल जाता है।

कहाँ वे संस्कृत कवि जो मानवती नायिका को प्रणय-कलह में मना रहे हैं—'रक्ता पूर्वदिगङ्गना रविकरै निद्यापि रक्तासि किम्!'

(देख, पूर्व दिशा सूर्य किरणों से रक्त (लाल) हो गई; परन्तु तुम अभी भी अनुरक्ता नहीं हुई ?) और कहाँ आजकल का सस्ता रंग-पाउडर, कि सबेरा भी 'पियराता' और नायिका भी विवर्ण, एनीमिया-पीड़िता। रक्त के नाम से आजकल लोग डरते हैं; प्रेम भी रक्तविहीन, माँसहीन होता है और युद्ध और क्रांतियाँ भी रक्त-हीन। रंग-रूप ही कुछ और हो गया है।

इसी से आधुनिक कवि इस लाल रंग के लिये बहुत व्याकुल है। पंतजी फरमाते हैं—'रक्त पलाश ! रक्त पलाश !! मुझे रूप ही भाता।' (इसीलिए 'रूपाभ' पत्र एक साल सिर्फ चला !) 'नवीन' जी के कुंकुम में 'बिंदिया' जिसने पढ़ी हो वह जानता है, कि उसका रंग पक्का है। 'अंचल' महोदय पुकारते है—

आज माँग में सेन्दुर क्या सखि, रुधिर चन्दनों की रेखा
भरी जवानी में यह विष भी बोलो प्राण ! गया देखा
छैल उठी है रक्त कबरियाँ बेनिशान मंजिल वाले !
रक्तलिप्त ले पीत पयोधर हैं दिगन्त भी मतवाले ! (अपराजिता)

'अंचल' की इस कविता का एक उनके मुलाकाती अर्थ बतला रहे थे, "छैल का मतलब छैला, छैल-छबीला, रंगीला जवान ! जैसा कवि, वैसी उसकी कविता !' धन्य हो !· परन्तु रंग की चर्चा कुछ ऐसी रँगारँग (इस शब्द के लिए मैं आ० इं० रे० का ऋणी हूँ—वह फीके, कई बार सुने, घिसे-घिसाये, फरमाइशी, मिले-जुले गानों के रेकार्डों का विज्ञापन गीतों का रँगारँग प्रोग्राम कहकर देता है) होती है, कि बूढ़े हरिऔधजी भी वैदेही-बनवास में कह उठे—

रंग जमाता, लोक लोचनों पर रहा
चंपा का चंपई रंग बन चारुतर !

विष्णु प्रसाद कुँवरि एक रीतिकालीन कवयित्री की होली है—'जमुना तट रंग की कीच बही ! प्यारजी के प्रेम लुभानी आनन्द रंग

सुरंग गही !' सौ बात की एक बात हमें रत्नाकरजी ने बता दी है—

कहत कुरंग जे न जानैं कछु रंग ढंग
परम सु-रंग ये तिरग नैन तेरे हैं !

एक देश भक्त को इसमें तिरंगा मज़ा आ गया—झंडा का झंडा, नैन के नैन, भक्ति की भक्ति ! पंतजी ने 'फहरै तिरंग' लिख ही दिया है। कई देशभक्त खुद एक तीन रग ब्लाक (हेड) हैं ! आपको अगर छगाई या चित्रकला से कुछ मतलब हो तो आपको जानना चाहिए, कि मूलतः तीन ही रंग हैं—त्रैवार्णिक, सृष्टि वाले सत्त्व-रज-तमस् नहीं (गोरे-लाल-काले की चर्चा ऊपर हो चुकी) मगर पीला, नीला, लाल ! इन्हीं के संगम से भिन्न-भिन्न रंग बनते है, जैसे हरा, केशरी, जामुनी, नारंगी आदि।

हिन्दी कोष में रंग शब्द के बाईस अर्थ दिये हैं। परन्तु फिर भी यह बेटा 'रंगरूट' शब्द कैसे बना, इसका 'रूट' समझ में नहीं आया आप भी कहेगे— क्या मज़ाकिये आदमी हो ! कहाँ के नायिका के 'गोरे लाल कपोलन' की चर्चा कर रहे थे और वहाँ से सीधे रंगरूट पर आ गये—हो गया न रंग किरकिरा ? मगर मेरे लायक दोस्त ! अगर ये रगरूट न हों तो देश की रक्षा कैसे हो और देश-रक्षा न हो तो धान कहाँ से उपजे, और धान न उपजे तो खायें क्या, और खायें नही तो खून कहाँ से बने, और खून ही नहीं हो तो वे नायिकाओं के जो 'अनुराग-रंजित' अभोजनवदन हैं, वे विकसित कहाँ से हों ? वे पुण्डरीक पांडुर हो जाये; वे पद्मराग एकदम श्वेत-कुमुद हो जायँ; और श्वेत तो प्रेत का रंग है (सफेद टोपी वाले माफ करें)।

रंग की ऐसी ऊल-जलूल चर्चा हम और भी करते मगर रंगों के दो प्रकार हमारे वैज्ञानिक मित्र बतला रहे हैं: एक विषैले, दूसरे खाद्य (एडिबल) ! मिठाइयों में जो नाना-वर्ण-युक्त पदार्थ आपको

दिखाई देते हैं, वे आप कदापि न समझें, कि कश्मीर के केशर-वनों से चुनी हुई कलियों से अनुरंजित हैं। वे खाद्य रंगों से विभूषित हैं। मतलब मिठाई भी क्या हुई आधुनिक सभी बातों की भाँति कोरा बाहरी रंग ही है, उसमें कुछ तत्त-माल नहीं।

रंग को 'वर्ण' भी कहते हैं। वर्ण-भेद या वर्णाश्रम वाला वर्ण नहीं; परन्तु सु-वर्ण ! जैनियों के देव ऋषभ का पुराणों में सु-वर्ण होने का उल्लेख था— धनी भक्तों ने उसकी सचमुच स्वर्ण की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करदीं। किसी चतुर सूक्तिकार ने कहा है 'सु-बरन को ढूँढत फिरैं, कवि, व्यभिचारी, चोर !'

बात चली थी बेरंग चिट्ठी से। कुछ लोग बेरंग चिट्ठी इसलिये भेजते हैं, कि वह कहीं खो न जाये और ठीक ठिकाने से पहुँच जाये, 'नावक के तीर' की तरह ! सच बात यह है, कि चिट्ठी-पत्री ही क्या, दुनियाँ ही बड़ी बेरंग होती जा रही है, और इससे ऐसे लेख लिखकर कुछ रंग प्रकट कर लेते हैं। वर्ना जब नया रंग चढ़ेगा, नया रंग जमेगा तभी कुछ यह ढब और यह बेरंगीनी कुछ कम हो तो हो। नहीं तो यह सब फिरंग का जादू है।

एक, दो, तीन

नाटक के आरम्भ के पूर्व तीन घंटियाँ होती हैं। तीन अंक पूरे होने पर यवनिका पतन होता है। हमारी आज की समस्या यही एक, दो, तीन की है। आप यह न समझें, कि मैं गणित के चमत्कारों पर कुछ बोलने जा रहा हूँ। वस्तुतः गणित विषय में मैं बहुत कच्चा था। गिनती का या हिसाबी वृत्ति का कलात्मक सृजन की वृत्ति से तीन और छः का रिश्ता है। मुझे ऐसा एक भी कवि, चित्रकार या शिल्पी बतला दीजिए, जो प्रसिद्ध गणितज्ञ भी हो; परन्तु गणित चाहे मुझे या आप को आवे न आवे, गणित आपको और मुझे अपने में समाए हुए है। सृष्टि की सारी समस्याएँ शून्य से अंक बनने की, 'बीइंग से बिकमिंग' की हैं। आज जीवन के प्रत्येक विभाग में हम इसी बात की चर्चा करते हैं:—इकाई, एकता, इत्तेहाद, यूनिटी होनी चाहिए; परन्तु जितना ही अधिक हम इस एकता शब्द को मुँह की भांफ से बाहर हवा में फेंकते हैं, उतनी ही दुई, द्वित्व द्वंद्व दुनिया में बढ़ता जा रहा है। जान पड़ता है, कि 'एकोहं बहुस्याम्' विश्व का नियम है; और हम अनेक को एक बनाने का, प्रवाह की धारा के उलटे अपनी नैया खेने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पारमेनाइदस यूनान का एक बहुत बड़ा दार्शनिक हो गया। उसने एक और दो और फिर दोनों के संघात से तीन या अनन्त की समस्या को बहुत मार्के से समझाया।

एक एक है।

अर्थात् वह दो नहीं हो सकता।

परन्तु एक अनेक छोटी-छोटी इकाइयों से बनता है।

अतः एक अनेक है।

तर्कशास्त्र के लिए अंगांगी-भाव की यह समस्या मनोरंजक हो सकती है। प्रत्यक्ष जीवन मे वह समस्या हमें खा जाती है। हिन्दुस्तान एक अखंड हिन्दुस्तान रहे या हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, राजस्तान में बँट जाये? साहित्य साहित्य के लिए है या साहित्य से ऊपर अन्य किन्हीं 'वादों' 'नारे' या 'पक्षों' के लिए है? आदमी आदमी के लिए है, या किसी मतवाद के लिए बलि-मात्र है? मनुष्य साध्य है या साधन? सटोरिया सोचता है एक के तीन कैसे हों—बिना किसी परिश्रम के बिना किसी भी सेवा के? राजनीतिज्ञ सोचता है, कि सटोरिये के तीन में से दो कैसे वह राष्ट्रीय कामों मे लगा ले (दो न सही डेढ़ ही सही, उसीके सहारे अपने राजनैतिक पक्ष के डेढ़ चावल की खिचड़ी पक सकती है) और इतनी बड़ा-बड़ी बाते न चाहिए हो तो सीधे उदाहरण देता हूँ—बीज एक है, उससे द्विदल अंकुर बाहर आता है, उससे अनेक शाखाएँ—प्रशाखाएँ बनती हैं। वह सफल होता है। फल निष्काम चाहे हो; परन्तु निष्प्रयोजन नहीं है। एक फल है, कि उसमें अनेकानेक बीज फिर से विद्यमान हैं। आप क्या हैं? फल और बीज एक साथ हैं। आपमें आपके पर-दादाओं के बीज हैं; जिन्हें आप अपने परपोतों को पवित्र थाती की तरह, धरोहर की तरह देने चले जायँगे।

गीता नाम की एक किताब है, जो आप में से कालेज के छात्रों में से और उसमें भी साइंस वाले तो बहुत ही कम पढ़े होंगे। उसमें भी यही एक-दो-तीन का चक्कर है :—सत्त्व, रज, तम। 'गुणत्रयविभागशः' मनुष्य की, उनके कर्म और योगों का बँटवारा है। आपका एक सिर है, एक जीभ है, दो आँखें हैं, दो कान हैं; परन्तु लोम या वाहिनियाँ अनेक हैं। अनेक वाहिनियों में से एक ही रक्त बहता है; परन्तु मज्जा

तंतुओं का प्रमुख टेलीफोन-एक्स्चेज मस्तिष्क एक ही है। जिह्वा, कंठ से आप तीन क्रियाएँ कर सकते हैं। खा सकते हैं, गा सकते हैं, बोल सकते हैं। इन तीनों में भी आप तारतम्य लगा लीजिए। तात्पर्य यह, कि विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-लय में मनुष्य जीवन के जन्म, व्यक्त-मध्य प्रवाह और अन्त में, भूत-वर्तमान-भविष्यत् में कोई शक्ति अवश्य है जो परिस्यूत है ? अर्थात्, जो स्थिर नहीं है और निरन्तर गतिशील है। हीगेल ने इसे ही 'लौगोस' कहा था, उपनिषदकारों ने 'प्राण', मार्क्स ने ऐतिहासिक अनिवार्यता।

बृहदारण्यक में कहा गया, कि ब्रह्म आरम्भ में अकेला था। निस्संग, एकाकी, केवल, चिन्मय एक। उन में दो बनने की इच्छा जगी। पता नही यह साख्य वाले कहते हैं वैसे किसी अंधी नाचने वाली प्रकृति 'महत्' के रोमाँस से जगी; या भौतिकवादी कहते हैं वैसे नैब्यूली (धूम्र-पिंडों) के ठंडे होने से। बहरहाल एक, दो जरूर बना। उभयलिंगी, हर्मोफ्रोडाइट। वह आत्म-मैथुन करने लगा। धर्म ने उसे अर्ध नर-नारी नटेश्वर कहा (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की इसके प्रति एक सुन्दर कविता है; मराठी कवि तांबे ने इसी शिव-रूप की आरती लिखी है।) परन्तु समाधान दो से भी नही था। प्रकृति का नियम है, कि एक और दूसरा मिल कर दो नही होते, तीसरी ही कोई चीज पैदा होती है। डी० एच० लारेंस की 'पैसीज़' में एक सुन्दर कविता है—'टर्शियम-क्विड' (लातीनी शब्द; अर्थ—तीसरी ही कोई सत्ता) कविता तीन पंक्तियों की है :—

"हाईड्रोजन के दो अंश हाईड्रोजन के दो अंश हैं।"

"आक्सीजन का एक अंश आक्सीजन का एक अंश है।"

"वह कोई तीसरी ही अज्ञात चीज़ है जो दोनों को जल में परिवर्तित कर देती है, जल की निर्मिति करती है और वह वैज्ञानिक नहीं जानते।"

वैज्ञानिकों का पृथक्करण तो एक और दो के हिस्से एक+एक तक सीमित हैं। आगे क्या ? एक+दो से तीसरी ही नई चीज़ पैदा होगी वह वैज्ञानिक नहीं बतला सकते। वंश-विज्ञानविद् क्या निश्चित रूप से बतला सकते हैं, कि गर्भिणी को जो होगा वह पुत्र है या पुत्री, या उसमें पिता का कितना अंश रहेगा या माता का कितना ? समस्त सृजन इसी प्रकार का है। वह विज्ञान की पकड़ में नही बैठता। आलोचना की हार या पंगुता यहीं है। आलोचना वैज्ञानिक होना चाहती है। कला-सृजन विज्ञान के नियमों से नहीं होता। क्या आप कृत्रिम तापमान से कली को खिला सकते हैं ? या विज्ञान से मुर्दे को जिला सकते हैं ? प्राण-तत्व विज्ञान को सब से बड़ी चुनौती है। विज्ञान मुर्दे को जान सकता है; परन्तु उसमें जान नहीं डाल सकता। परन्तु कला आदि छोड़िये, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न अवश्य एक-दो-तीन की जकड़न में आते है। आरम्भ में मानव गुहावासी था। यह उसका एक रूप था; उससे वह कबीला वाला बना, पर्यटक और खानाबदोश बना, यह उसका दूसरा रूप हो गया; कृषि आई, वह बस गया। भटकने वाला जम गया—तीसरा रूप पैदा हुआ जो पहले का आदिम मानव गुफा में बसता था, वह पृथु राजा के बसने से भिन्न था; क्योंकि अब प्रस्तर युग से लौह-युग में मानव ने प्रवेश किया। अग्नि-तत्व के बाद पृथ्वी-तत्व सभ्यता के विकास में आ गया। कुछ सहस्राब्द बीते। सामन्त आपस में ज़मीन, ज़र और जोरू को लेकर लड़ने लगे। रामायण, महाभारत, ट्रोजन-युद्ध, यूनान और रोम से भी पहले आसुरी, बाबुली, मिस्री की सभ्यता के उत्थान-पतन के इतिहास इन्हीं से भरे पड़े हैं। वही त्रिकोण : एक प्रेय, दो चाहने वाले। खींचातानी, आपाधापी, लूट-खसोट, मारामारी, योजनाबद्ध शोषण, दंगे। यन्त्र ने मानव जीवन में प्रवेश किया: अब केवल सवाल श्रमिक और धनिक का नहीं रहा—दोनों से बढ़कर एक तीसरी ताकत वैज्ञानिक (जो, कि यंत्र

निर्माता था) वह आ गया। अणु-बम उसी की ईजाद है।

बना बना के जो दुनिया मिटाई जाती है।
ज़रूर कोई कमी है, जो पाई जाती है।—जिगर

उस तीसरी ताकत को पूंजी ने खरीदना चाहा। मानव-मानव के व्यवहार के बीच में पूंजी एक तीसरी शक्ति आ गई, जिसके आने का अर्थ था, मानव-मानव के व्यवहार नगद और उधार के हो गए। मसीहा, नेता, कवि आदि इस व्यवहार की प्रतिक्रिया में 'पड़ौसी से प्रेम करो', 'प्रेम-मुहब्बत' 'सर्वात्मकं विश्वं' का उपदेश देने लगे। परन्तु उपदेश देने से समस्या सुलझती नहीं। तीन हजार वर्ष से प्रेम का उपदेश सभी धार्मिक-ग्रन्थ दे रहे हैं; परन्तु दुनिया की बुराइयां किसी कदर कम नहीं है; बल्कि कलियुग बढ़ता ही जा रहा है।

ईशावस्योपनिषद् में एक मन्त्र है, जो मुझे बहुत प्रिय है। आज के युग का प्रगतिशील मेधावी कवि भी उसके आगे क्या लिखेगा ?—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं
तस्य पूषन्न प्रावृणु सत्यधर्माय दृष्टये

यह उपनिषदकारों का 'डाइलेक्टिक्स' है।

इसका अर्थ यह है, कि सत्य का मुख सोने के पात्र से ढाँक दिया गया है। वह बर्तन हटाकर कृपया मुझे सत्य के दर्शन दो। यही सबकी पुकार है। हमें नंगे, विशुद्ध, सौटंच सत्य के दर्शन चाहिए। यह अधूरा, अधमरा, लिपटा-लपटाया, छायामात्र, वास्तव नहीं चाहिए। वास्तव यथार्थ एक; छाया (कल्पनादर्श) दो; दोनों के संघर्ष-समवाय से निकलेगा सत्य। हिरण्मय पात्र उसी आरम्भिक हिरण्य-गर्भ की तरह टूट पड़ेगा। सोने-चाँदी के बर्तनों को पालिश देने की क्या जरूरत ? वे जन-साधारण के बर्तन हो ही नहीं सकते। अतः वे ऐतिहासिक, इतिहासजमा (मराठी शब्द) हो चुके; उन्हें म्यूज़ीयमों में रखो ! आज वल्कल कौन पहनता है ? क्लाथ कन्ट्रोल की दुकानें हर शहर में हैं,

चाहे नंगे ही क्यों न रहना पड़े ? आज हम मृगया करके या मांसयज्ञ में भून-कर नहीं खाते; हमने पाकशाला निर्माण कर ली है; चाहे गेहूँ आस्ट्रेलिया का ही क्यों न हो और घी वेजीटेबल का ? हम आज अधिक सभ्य बन गये हैं; यानी एक अर्थ से हम अधिक आवरणबद्ध असभ्य बन गये हैं।

डाइलैन टामस तरुण अंग्रेजी कवि है। कविता की परिभाषा उसने दी है—'कविता वह जो परिधान-आवरणमय आभास को कमतर करती हुई, नंगे सच्चे वास्तव का अधिकाधिक साक्षात्कार कराये।' यही बात समूचे साहित्य के लिए कही जा सकती है। समूची राजनीति और जीवन संस्कृति के लिए कही जा सकती है। नेता विलायत नहीं जायेंगे—एक; हाँ, हाँ जायँगे—दो; लौटकर खाली हाथ आयेंगे और वक्तव्य देंगे मैंने लंदन जाने में बड़ी भूल की—तीन। अछूतों ने कहा—हम मुसलमान होंगे—एक। नहीं, नहीं—हम ईसाई होंगे—दो। नहीं, हम हिन्दू अल्पसंख्यक ही रहेंगे—तीन। यह लहलहाते जीवन के चारों ओर कैसी बागड़ है, जो लौट लौटकर इच्छाएँ वहीं चली आती हैं ? पूर्ववत्, लीक-लीक जैसे थे। यह 'एतादृशत्व' को कायम रखना है। यह स्थिति-स्थापकत्व है। अपरिवर्तनवादिता है। यह राज-नैतिक सनातन-धर्म है। दूसरा मत उन लोगों का है, जो अभी संस्था-बद्ध नहीं हैं। जो कुछ हदतक निराकार हैं, सक्रिय नहीं हैं; परन्तु प्रबल विचारक हैं, कि—नहीं, नहीं, तीसरी शिला, इस तीसरी ताकत की चट्टान को हटाना है। गोपाल कृष्ण गोखले कहा करते थे—त्रिभुज (ट्रैंगल) की दो बाजू मिलकर तीसरे से हमेशा बड़ी होती हैं। अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता की पुस्तक 'भारत की सांप्रदायिक समस्या' में त्रिभुज के तीन पहलू—हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज कहे गये हैं। मैंने पहले ही कहा न, मैं ज्यामिती वगैरह गणित शास्त्र में कच्चा हूँ। अतः 'कारोलरीज' चाहे जो निकाल लें।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं, कि हर सातवें वर्ष या आठवें वर्ष मनुष्य के

स्वभाव में परिवर्तन होता है। मनोघटना बदलती है। एक उम्र थी, जब आप शब्द नहीं जानते थे। केवल नाद थे। नाद से अक्षर बने, अक्षरों से शब्द, शब्दों से वाक्य, वाक्यों से तर्क प्रणाली और भावाभिव्यञ्जना। एक और अक्षर मिलकर नया ही आशय व्यक्त हो जाता है। आप ना, ना अलग-अलग कहिये और एक साथ। दोनों बातें बिल्कुल अलग अलग हैं। सो आप क्या होना चाहते हो? एक और एक ग्यारह? या एक और एक तीन?

एक रेखा अनेक बिन्दुओं से बनती है। दो रेखाएँ होती हैं। वे समानान्तर कहलाती हैं। कहने को तो वे अलग-अलग हैं; परन्तु ज्यामिती वालों से सुना है वे दोनों रेखाएँ भी अनन्त में मिल जाती हैं। तुम आर्य हो, अनार्य हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो; बड़े हो, छोटे हो, आखिर आनंत्य-क्षण और आनंत्य-देश ऐसी महद्, विराट्, सर्वग्राही इकाई है, जो आप सबको समा डालेगी। तारे बहुत हैं; दिशाएँ बहुत हैं—परन्तु सबको अन्दर से थामने वाली हेतुमत्ता, जोश और भाव-विचार-परम्परा एक ही है। कहो नहीं है, तो फिर वह क्या जो 'न' और 'ही' को बाँधे हुए है? वह आपका श्वास मात्र नहीं है, वह वायु-लहरियाँ भी नहीं है, वह उससे कुछ अधिक है।

मैंने आपका बहुत समय 'निवरी' (मालवी शब्द) बातें कर, बरबाद किया। आपके सामने परीक्षा है—या तो दौड़ने वाले घोड़े के आँखों के सामने लटकटे हुए *'Bait'* की तरह, या सिर पर टँगी डिमोक्लीस की तलवार की तरह। आपके सामने वय का विशाल पट है। उस पर रंगीन सपने हैं। रेखाओं में उन्हें खींचो। रेखा विन्दुओं से बनती हैं। बिन्दु अलग-अलग हैं; परन्तु एकत्र हो वे और ही समा बनाते हैं। आप सोच लो, कि आप एक हैं; आपके आसपास की दुनिया, परिस्थिति, युग दो हैं—दोनों के संघर्ष या समवाय से एक तीसरे ही प्रकार की आपकी निर्मिति होने वाली है। आपको सोचना है, कि आप यवनिका-

पतन के पहले की तीन घण्टियाँ सुन रहे हैं या यवनिकोत्थान के पहले की।"

ऊपर का भाषण मैंने होल्कर कालेज, इंदौर के होस्टल में सन् ५ में दिया था। बाद में मेरे पढ़ने में अंग्रेज़ी साम्यवादी कवि ऑडेन की गद्य-पद्य पुस्तक 'ओरेटर्स' का है, जिसमें निम्न वाक्य मुझे अपने तर्क से मिलते हुए जान पड़े, सो उन्हें देकर यह लेख समाप्त करता हूँ :—

"An old one is beginning to be two new ones. Two new ones are beginning to be two old ones. Two old ones are beginning to be one new one. A new one is beginning to be an old one. Something that has been done, that something is done again by some one. Nothing is being done but something being done again by some one...The belly receives; the back rejects; the eye is an experiment of the will." (p. 31)

एक और अनेक

एकोहं बहुस्याऽम्...

एकसे अनेक बने, और अनेककी चाह है, कि पुनः वे एक हो जायँ ।

एकसे अनेक बने ही क्यों ?—जैसे बीज अनन्त अंकुर, शाखाएँ, पत्र, पुष्प, फल, वृक्ष । शङ्कराचार्य का उत्तर है, कि वे इसलिए बने, कि 'एक' (जो चाहे निरीह और निरिच्छ रहा हो) को लीला करने का, खेलने का मोह उत्पन्न हुआ । वृहदारण्यक में इसीलिए कहा है, कि जो हिरण्यगर्भ था वह दो हिस्सों में बँट गया—एक नर, एक नारी । इन दो से पुनः एक की उत्पत्ति हुई । मानस-विश्लेषणवेत्ता फ्रायड ने अपने 'सुख-तत्त्व से परे' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में यह बात उद्धृत की है; जो हिरण्यगर्भ की अवस्था है ठीक वही क्रोमोजोम्स की है । जब, कि एक मास में नारी का एक रजकण बन पाता है, पुरुषके चौदह करोड़ वीर्यकण बनते हैं; और पुनः एक से दो, दो से चार. चार से आठ...अड़तालीस चौबीस-चौबीस नर-नारी के भाग हैं । फ्रांस देश के सुप्रसिद्ध अध्यात्म-शास्त्री वर्गसां के मत से सिरजनहार के मन पर सिरजन की इच्छा का जैसे आरोप नहीं किया जा सकता, वैसे ही केवल क्रीड़ा की इच्छा सृष्टि का आदि कारण कैसे हो सकती है ? जैसे वृक्षों में पत्ते अनायास फूटते हैं, बच्चे के मुँह पर हँसी अनपेक्षित रूप से खिलखिलाती है सिरजनहार की यह तृप्ति भी वैसे ही सतत-विकास, रचनात्मक विकास की परिचायिका है । अरूप से रूप का निर्माण कैसे सम्भव है ? अतः भौतिकवादी मानते हैं, कि आरम्भ में जो था वह सब भौतिक ही था, उसी में से जीव की सृष्टि हुई ।

एकसे अनेक बने तो कहा गया, कि यह हुआ विकास। संख्या के क्षेत्र में एक पर अनेक शून्यों का चढ़ाना भी अनेकत्व का निर्माण कर सकता है; परन्तु मानव-जीवधारी के परस्पर-सम्बन्धों में ? शून्य यहाँ कुछ नहीं; सब कुछ भरा-पूरा है। जो कुछ भी है, ठोस है। इसीलिए भौतिकवादी कहते हैं 'एमीबा' से शुरू हुई जीवोत्पत्ति; फिर निरीन्द्रिय, सेन्द्रिय कई मञ्जिलें लाँघकर आये मानव पर; और मानव से आगे चलकर महामानव तक विकास की सुनिश्चित सम्भावना है।

पर क्या एक से अनेक हो जाना गुण-वृद्धि है ? संख्या क्या सदा गुणात्मकता बढ़ाती जाती है ? स्पष्ट है नहीं ? जापान तो प्रतिवर्ष न जाने कैसी तीव्र गति से आबादी में तरक्की करता जा रहा है ? पर क्या हम कह सकते हैं, कि जनसंख्या के अनुपात मे भारत या जापान की गुण-वृद्धि भी हुई है ? महज अनेकत्व, इस प्रकार विकास की कोई शर्त नहीं हो सकती। उलटे, शायद, एकता ही विकास की मुख्य शर्त है, या कहें 'अनेकत्व में एकता' ही विकास का मुख्य सूत्र है।

इस दृष्टि से आज की दुनिया को सताने वाले दो प्रश्न हम ले सकते हैं—धर्म और विज्ञान। क्या धर्म विकसित हुआ है ? यदि शाब्दिक बारीकियों का नाम धर्म हो, यदि कर्मकाण्ड के प्रति बढ़ती हुई अन्ध आस्थाका नाम धर्म हो, यदि रूढि राक्षसी के शिकञ्जों का और कसा जाना धर्म कहलाता हो, तो धर्म जरूर विकसित हुआ है; परन्तु मानव धर्म क्या विकसित हुआ है ? यदि वह विकसित हुआ होता तो आज दुनिया का जो नक्शा है वह न दीखता और आज जो नरसंहार प्रतिदिन हो रहा है वह भी न घटित होता। आज मानव का इस बात पर नाज होता है, कि वह अन्य इतने-इतने करोड मानवो की जान लेता है; जब कि उन करोडों में से सच्चे शत्रु मिर्फ कई सौ ही हैं, बाकी सब निरपराध। घुन के साथ गेहूँ इसलिये पिसता है, कि वह 'साथ' है। बौद्ध धर्मानुयायी जापानी बुद्ध की मूर्तियाँ गलाकर उस धातु के वायु-यान या बम बनाने की फिक्र में हैं: और मार्टिन ल्यूथर के उसी देश में

जहाँ ईसाई आने रसूल के राज्य में (किंगडम ऑफ हेवन) सब को आने के लिए द्वार खुले है कहते थे, आर्य रक्त और नार्डिक थ्योरी जैसे वर्ण-विग्रह पर आग्रह किया जाता है।

क्या विज्ञान विकसित हुआ है? यदि विज्ञान का अर्थ सिर्फ बारीकियाँ या जानकारी मात्र हो तो वह निश्चित ही बढ़ा है; परन्तु जैसा, कि गान्धी जी ने कहा था 'बावजूद सैकड़ों वैज्ञानिक आविष्कारों के मानव की नैतिक ऊँचाई एक मिलिमिटर भी नही बढ़ी है।' कहते हैं, कि प्राणीविज्ञान और मनोविज्ञान ने बहुत प्रगति की है, परन्तु देखने में तो कुछ उलटा ही नजर आता है। इन अनिर्णीत विज्ञानों के तर्क तानाशाहों के हस्तक बने संहार के साधन बन रहे हैं। कुछ वैज्ञानिक वे भी हैं जो कई दुर्जेय और मानवी बुद्धि की सीमाओं से परे के सत्यों के आगे नत-मस्तक हैं।

फिर विकास क्या? महज आदमी को लंगूर की सुधरी हुई आकृति बना देने से या आदमी को उससे आगे आने वाली किसी 'सुपरमैशन' (वैश्वानर या महा-मानव) की पीढ़ी का आश्वासन दे देने से काम नहीं चलेगा। क्या अवतारवाद की कल्पना हमें इस बात को समझने में मदद देगी? मत्स्य-कच्छ-वाराह से बुद्ध-कल्कि तक ईश्वर ने रूप बदले; जातकों में तो बोधिसत्व कहीं हंस, कहीं हिरन और कहीं बन्दर बन जाते हैं, परन्तु सर्वत्र ईश्वर हो या बोधिसत्व, क्रियाओं के पीछे का मूल कारण एक ही है। वह शाश्वत तत्त्व है। अनेकता में एकता, विसङ्गति में सङ्गति, विशृङ्खलता में सुसूत्रता, बौद्धिक अराजकता में किसी आशादायी नवनिर्माण में आस्था और निष्ठाका एक-छत्र शासन क्या विकास का ईप्सित नही? विकास है सर्वोदय।

विकास के लिए ऐसी ध्रुव सैद्धान्तिक भित्ति बहुत आवश्यक है, नहीं तो चकित बुद्धि कहीं की न रहेगी। राह अनेक हैं, मगर चाह तो एक है। बीमार अनेक, अनार एक। उमरखय्याम के अनुसार-- आने जाने वाले अनेक, दरवाजा एक। बीज एक है, फल अनेक; फल एक है, बीज अनेक।

सत्य और न्याय के नाम पर

आज की दुनिया क्या है एक खासा अजायबघर है ? सब आदमी अपनी-अपनी हाँक रहे हैं। नतीजा यह है, कि कोई किसी की नहीं सुनता ? कल जो नया था आज पुराना पड़ गया है; आज जिसे हम नया कह कर पुकारते हैं वह आने वाले कल नहीं तो परसों-अतरसों ज़रूर पुराना पड़ जायेगा। इस तरह से एक ज़माने में जिन्हें बड़े-बड़े मूल्य कहा जाता था, उनकी दर बहुत गिर गई है, गिर रही है और गिरती जायेगी। दुनिया में सब तरह के लोग हैं और कहाँ-कहाँ तक किसी को रोका जा सकता है ? सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम सब ऊँची-ऊँची चीज़ों को इन भले-मानुसों ने लाकर नीचे के स्तर पर उतार दिया है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इन्होंने इन बड़े-बडे आदर्शों का उपयोग कर लिया है। अपनी खिचड़ी पकाने के लिये ये लोग यूनानी देवता प्रामीथियस की तरह स्वर्ग से आग चुराने में भी नहीं हिचकिचाते।

आज हम कुछ ऐसी बातें कहने जा रहे हैं, जो सत्य और न्याय के नाम पर की जाती है। सत्य क्या है और असत्य क्या है यह आज तक बड़े-बड़े विचारकों को भी ठीक से नहीं मालूम हुआ, तो हम और आप किस खेत की मूली हैं ? जो मेरा सत्य है वह आपका असत्य हो सकता है। और फिर यह भी सत्य है, कि मेरा सत्य भी आज एक हो, कल दूसरा हो सकता है। कुछ दार्शनिकों ने कहा, कि ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या है। मैं पूँछता हूँ, कि ब्रह्म भी सत्य क्यों है ? ब्रह्म भी एक बड़ा भ्रम क्यों नहीं माना जाये ? आज तक दुनिया के सब

धर्म और मज़हब सत्य को पाने के लिये रहे हैं; परन्तु उनके हाथ सिवा बालू के और परछाई के कुछ नहीं लगा। सत्य के नाम पर बड़े-बड़े झूठ दुनिया में नकाब ओढ़े घूम रहे हैं। सत्य बेचारा कहीं उन्हें देख ले तो खुद ही अपना 'राम नाम सत्य है' बोल दे।

सच बात यह है, कि न्यायालयों में और बाहर प्रतिक्षण, प्रतिदिन कितने तरह की क़समें लोग नहीं खाते होंगे, कितनी शपथ नहीं लेते होंगे, कितने प्रण नहीं करते होंगे ! परन्तु उनमें से ९९ प्रतिशत ऐसे होते हैं, जो निबाहे नहीं जाते। वादा किया ही इस लिये जाता है, कि उसे पूरा न किया जाये। आज सवेरे से उठ कर मैंने प्रतिज्ञा की, कि मैं बिलकुल सत्य बोलूंगा और उससे कम कुछ नहीं। हमारे पड़ोसी बहुत बीमार थे और उनके लिये डाक्टर के पास दवा लेने पहुँचा। उन्होंने बतलाया, कि उनकी हालत बहुत नाजुक है और अब चन्द मिन्टों के ही वे मेहमान हैं। मैं वापस पड़ोसी के घर पहुँचा। उन्होंने पूछा— डाक्टर की क्या राय है ? अभी कुछ जिन्दा रहने की आशा है ? अब मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि सत्य ही बोलूंगा। कह दिया— डाक्टर की राय है, कि आपकी हालत बहुत खराब है और आप ज्यादा देर नहीं जियेंगे। आप कल्पना कर सकते हैं, कि इसका परिणाम क्या हुआ होगा ?

मैं खाना खाने बैठा। क़सम खा बैठा था, कि सत्य ही बोलूंगा। उस सत्य से इधर-उधर न होऊँगा। पत्नी ने खाना कुछ बे-मन से बनाया था। चावल कच्चे थे, रोटी अधसिकी थी, दाल में नमक ज्यादा था और साग में मिर्च। मैं खा रहा था और कुछ मुँह भी शायद बना रहा था। पत्नी ने पूछा—खाना कैसा बना है ? क्या पसन्द नहीं आया ? मैंने सत्य कह दिया—हाँ, बहुत रद्दी बना है। तुमसे ऐसी उम्मीद नहीं थी। यह कहना ही था, कि श्रीमती जी बिगड़ उठीं। कहने लगी—"अब मैं तुम्हारी बातें और नहीं सह सकती। मैं सीधी मैके चली जाऊँगी।" दफ्तर गया तो वहाँ भी एक दोस्त से लड़ाई हो

गई। वह नये-नये सूट और टाई में बहुत रोब से आया था। उसने पूछा-क्यों भाई, आज यह नया सूट कैसा सिला है ? स्पष्ट था, कि मैं कुछ उसकी तारीफ, झूठ ही क्यों न हो, कर देता ? परन्तु मैंने तो सत्य बोलने का बीड़ा उठा लिया था। मैंने सत्य बात कह दी—मित्र, तुम्हारी यह शक्ल और उसपर ये कपड़े ? तुम खासे बावर्चीनुमा दिखाई देते हो। मित्र बहुत नाराज़ हो गया।

सत्य को इसी कारण से शायद कड़ुवा कहा गया है। सत्य ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ! सत्य बोलो पर मीठा बोलो। यानी कुनैन तो दो पर ज़रा शक्कर-लिपटी हुई। सत्य के नाम पर इसी तरह की पानी-मिली हुई या वेजीटेबल-मिली हुई या ऐसी और ही मिलावट से भरी बातें दुनिया में दिखाई देंगी। उदाहरणतया आजकल का कोई भी रोज़गार ले लीजिये ? ज्योतिषी कहता है, कि मैं आपके भविष्य की सब बातें सच-सच बता दूँगा; परन्तु ऐसी गोलमाल बातें वह करता है, कि उसमें की शायद सौ में से एक या आधी बात सत्य निकलती है। बाजार में किरानी की दूकान में पहुँचिये तो वह शुद्ध घी, खालिस दूध, असली केशर और बढ़िया बादाम बतलाता है। मगर घी में न जाने कितनी बनस्पति की मिलावट होती है, दूध का मक्खन पहले ही निकाला जा चुका होता है; केशर तो भुट्टे के बालों को रगकर बेचते हैं और बादाम अक्सर कड़ुवे निकलते हैं। वही हाल फलों का है। प्रेमचन्द की 'कश्मीरी सेब' कहनी प्रसिद्ध है। सड़े हुए, हरे, खट्टे, कच्चे फल कई बार अच्छे फलों के साथ मिलाकर दे दिये जाते हैं। फूल भी आजकल नकली मिलने लगे हैं और प्रकृति की हर चीज़ जब झूठी और ढंग से बनाई हुई मिलने लगी तब आदमी औरत और दिल-ओ-दिमाग़ भी उसी तरह के मिलने लगे हों तो कोई अचरज नहीं ?

राजनीति में, समाज में आलोचना में सब जगह सत्य के नाम पर स्वार्थ पोषण ही विशेष दिखाई देता है। युद्धकाल में प्रत्येक देश

अपने आपको सत्य का ठेकेदार बतलाता है। आलोचना करते समय यही देखा गया, कि दूसरे में हम वही दोष देखना चाहते है; जो हम स्वयं में छिपाना चाहते हैं। सत्य के नाम पर ऐसी ही धोखा-धड़ी सब जगह देखने को मिलती है। जो घर का सत्य है वह मुहल्ले मे जाकर सत्य नहीं रह जाता, जो मुहल्ले का सत्य है वह शहर में जाकर सत्य नही रहता। जो नगर का सत्य है, वह राष्ट्र का नहीं और जो राष्ट्र का है वह अनेक राष्ट्रों का सत्य नहीं कहलाता।

सत्य से अधिक पिटाई बेचारे न्याय की हुई है। न्याय वैसे बना है 'नय' धातु से। जिसमें निष्पक्षता, समानता, एक सा व्यवहार अपेक्षित है; परन्तु न्यायलयों में जाकर देखिये हजारों बेगुनाह सजा पा रहे हैं और कई पक्के गुनहगार सबूत के न होने से मजे में घूम रहे हैं। जॉन गॅल्सवर्दी ने अपने 'जस्टिस' नामक नाटक मे यही बात कही है। न्याय की दुहाई देकर अल्पसख्यक बहुसंख्यक से भी अधिक शक्तिवान बनना चाहते है। न्याय के नाम पर ऐसी-ऐसी झूँठी गवाहियाँ पैदा की जाती हैं। नन्दकुमार को फाँसी देने से पहले उसके विरोधी पक्ष के वकील ने उंगली से एक, दो, तीन, लाख कह कर एक गवाह को फोड़ लिया। आखिरी वक्त उस गवाह ने कह दिया—"अब तक जो मैं कह रहा था वह सब निरा सपना था। गर्मी के दिनो मे अक्सर हिन्दुस्तान मे बड़ी रात तक नींद नही आती।" और इस तरह वह गवाह पागलों में शामिल कर लिया गया।

न्याय के नाम पर प्रतिदिन खूनी और उसकी मदद करने वाले साजिश में शामिल लोग अपना बचाव करना चाहते हैं। वे इस तरह से अपना जाल खड़ा करते हैं, कि यों जान पड़े, कि मानों उनका इस सारे खून के केस में कोई हाथ ही नही था? दुनिया के बड़े-बड़े प्रसिद्ध केसों में यही होता आया है।

क्योंकि; आखिर न्याय देनेवाला भी तो कोई परमात्मा नहीं?

आदमी होने के नाते वह भी उतना ही कमज़ोर है जितना, कि वादी या प्रतिवादी। मान लीजिए 'अ' और 'ब' दो राष्ट्र हैं, जो आपस में लड़ पड़े। दोनों के पास खासी दलीलें अपने-अपने पक्ष के न्याय में हैं। अब यह कैसे निश्चय किया जाये, कि कौन किस पर अन्याय कर रहा है? 'अ' का दावा है, कि उस पर अन्याय हो रहा है; 'ब' का दावा है, कि उस पर। न्याय का ठेका तो किसी ने नहीं ले रखा है? तोजो को फाँसी देने से पहले एक भारतीय न्यायाधीश का मत कुछ दूसरा ही निकला; और विधान परिषद् में हिन्द का प्रेजीडेंट ईश्वर में विश्वास रखने वाला हो, उसके नाम शपथ ले, इस बारे में भी एक राय होनी मुश्किल हो गई। ऐसी हालत में अगर मेरे दोस्त ने मेरी किताब चुरा ली और मैंने कहा, कि यह उसने अन्याय किया, तो इस विषय में भी मेरे दोस्त की राय शायद मुझ से कुछ दूसरी ही हो। इसलिये दो बिल्लियाँ जब झगड़ीं तो उन्होंने बन्दर को अपना न्यायाधीश बनाया; और चूहे अपनी सभा में हर वक्त प्रस्ताव करते रहे, कि बिल्ली के गले में घंटी बाँधी जाये, पर म्याऊँ का मुँह कौन पकडे? यह सवाल बना ही रहा।

कभी-कभी न्याय के नाम पर की जानेवाली बातों के बारे में निर्णय देना सचमुच कठिन हो जाता है। अंग्रेजी कानून के प्रसिद्ध मुकदमों में एक केस मे-पोल का है। एक दिन शाम के झुटपुटे में एक गाडी हाँकने वाला ऐसी गली से चला जा रहा था, जिसमें चढ़ाई थी। गली के सिरे पर, जैसे होली के उत्सव में हमारे यहाँ एरंड का पेड़ गाड़ते है वैसे मई मास में डंडा वहाँ गाड़ा जाता है, वह लगाया गया था। यह गाड़ी वहाँ जाकर टकराई। गाड़ी चलाने वाले की आँखें दूर का देख नहीं सकती थीं, कुछ कमज़ोर थीं। गाड़ी जाकर उस मे-पोल पर टकराई गाड़ी में लदा माल गिर गया, बिखर गया। अब यह नुक्सान किसकी वजह से हुआ, कौन न्याय करे? गाड़ीवान की आँखों का कमज़ोर

होना इसके लिये उसके माँ बाप जो छुटपन से चश्मा पहनते थे, दोषी हैं; और शाम के झुटपटे के लिये बादल और सूर्यभगवान। अतः दावा किया भी जाये तो सूर्य पर करना चाहिये; परन्तु वहाँ न्यायाधीश कौन बनेगा ?

उसी तरह से कई बार ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं, कि जिनमें न्याय करना असंभव हो जाता है; क्योंकि सत्य और असत्य की सीमा रेखा कुछ स्पष्ट नहीं दिखाई देती। यूनान में एक बार एक विद्यार्थी अपने वकील गुरु के पास न्याय शास्त्र पढ़ रहा था। तै यह हुआ, कि आधी फीस शुरू में देकर आधी फीस वह बाद में तब देगा, जब कि वह अपना पहला मुकदमा जीत लेगा। इस प्रकार पूरा न्यायशास्त्र सीख लेने के बाद भी जब वह शिष्य वकालत कर ही नहीं रहा था, तब गुरु को बड़ी चिंता पड़ी, कि उसकी फीस डूब गई। गुरु ने शिष्य पर दावा ठोंक दिया। गुरु का तर्क यह था, कि यदि शिष्य मुकदमा जीत जाता है तो पूर्व-निश्चय के अनुसार इसे आधी फीस देनी ही चाहिये; यदि शिष्य हारता है तो उसे अपनी आधी फीस मिलनी ही चाहिये; क्योंकि गुरु जीत गया है। शिष्य ने इस तर्क के उत्तर में तर्क प्रस्तुत किया, कि यदि वह जीतता है तो आधी फीस उसे देने की कोई आवश्यकता नहीं और हारता है तो भी देने की आवश्यकता नहीं। बोलिये ऐसी हालत में न्याय देना है न मुश्किल बात ?

न्याय के नाम पर सेंट जोन को फाँसी दी गई, सुकरात को ज़हर पीना पड़ा, ईसा को सूली दी गई और ऐसे कई उदाहरण इतिहास प्रस्तुत कर सकता है। धोबी के कहने पर सीता जैसी पत्नी को निर्वासित कर देना कहाँ का न्याय था ? केवल सपने में दिये वचन की सत्यता की पूर्ति के लिए हरिश्चन्द्र का शैव्या-रोहित तक को ज़लील करना कहाँ का न्याय था ? जब दुर्योधन गांधारी की आँखों की पट्टी खुलवा कर दिव्य दृष्टि से शरीर का संपूर्ण अमरत्व प्राप्त करना चाहता था, तब

उसे फूल की चड्डी पहिनवाने में कृष्ण ने कौन सा न्याय दिखलाया ? अश्वत्थामा मर गया, 'नरो वा कुंजरो वा !' (हाथी है कि आदमी पता नहीं !) यह कहना कहाँ तक न्यायसंगत था ? और जुए मे अपनी पत्नी द्रौपदी को दाँव पर चढ़ा कर हार जाना कहाँ का न्याय है ? फिर भी पुराणो में और रामायण-महाभारत में इन बातों पर लडाइयाँ हो गई है; बडी भारी बातें घटित हो गई हैं। आजकल का राम होता तो तलाक दे देता; आजकल के पाडव होते तो कहते एक 'रबर' हार गये कार्ट्रेक्ट ब्रिज में तो क्या हुआ, कल फिर खेल लेंगे।

न्याय या 'लॉ' पढने के नाम पर 'लॉलेस' विद्यार्थी कैसा-कैसा और क्या-क्या अन्याय नही ढाते। जब वे एविडेंस एक्ट पढते हैं तो गवाह झूठे सिद्ध करने के ढंग सीखते हैं; जब वे 'कार्ट्रेक्ट-एक्ट' पढ़ते है तो इकरारनामे में कौन से दोष दिखलाये जायँ यह सीखते हैं; जब वे फौजदारी कानून पढते है तो डाके को चोरी कह कर और ऊपर से सीना जोरी कैसे की जाये यह सीखते हैं; जब वे विवाह के कानून पढ़ते हैं तब गैरकानूनी या गंधर्व-विवाह की कल्पनाएँ सोचते रहते है। दुनिया में तीन हज़ार बरस से हजरत मूसा और मनु महाराज और कई बड़े-बडे न्यायाचार्य न्यायशीलता सिखाते आ रहे हैं; परन्तु पता नही कैसे और क्यों आदमी अभी भी गुनाह किये बिना नही रहता ? पाप किसे कहा जाये यह तय करना मुश्किल है; क्योंकि तिब्बत में सब से मैली-कुचैली और बिना नहाई महिला को सुन्दरी कहा जाता है, वैसे ही अफ्रीका में और कई जंगली जातियों की लड़की को भगा ले जाना वीरता का लक्षण माना जाता है; कोई पाप नही। हमारे यहाँ तो पापों की सूची में नाखून चबाना और विदेशी भाषा बोलना-पढ़ना भी पाप माने गये हैं; समुद्र की यात्रा करना पाप है और चोटी न रखना तो महापाप है ; परन्तु अब जैसे पाप की व्याख्या बदल गई, वैसे ही

अन्याय की भी बदल गई है। कभी ब्राह्मण दूर से अछूत को झूठी रोटी फेंक दे यह न्याय था; आज यह घोर अन्याय है। कभी स्त्रियों के साथ पैर की जूती की भाँति व्यवहार करना न्याय था; आज भयानक अन्याय है। इसलिए न्याय भी कोई सनातन या स्थिर नहीं रहता, व्यक्ति, देश और काल के अनुसार बदलता रहता है।

मेरे एक मित्र है जो अपनी पत्नी को पीटना बड़ी न्यायपूर्ण बात समझते हैं; उससे उलटे एक देवी जी हैं जो अपने पति के साथ वही न्याय बरतना चाहती हैं। मैं कहता हूँ, कि पीटना कार्य अन्यायपूर्ण है, परन्तु जब मुन्नो बहुत हठ कर बैठती है तो मैं भी उसी अन्तिम ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर बैठता हूँ। जो बात इस छोटे से पीटने के उदाहरण में सही है, वही अन्य सब बातों के न्यायसंगत होने न होने के बारे में सही है। शाकाहार मांसाहार से अधिक न्यायपूर्ण है, इसकी दलील बर्नार्ड शॉ ने यों दी थी, कि एक अनार का दाना ले जाइये, बोइये तो उसमें से कई अनार निकलेंगे, उसे एक छोटी सी हड्डी जो चूसकर फेंक दी गई हो उसमें से दुबारा मछली या बकरी नहीं पैदा हो सकती। उसी तरह कई बातों की न्याय-पूर्णता के विषय में मुझे सन्देह है, चाहे आपको न हो। कई भाई समझते हैं, कि किसी बड़े आदमी का नाम ले लेने से न्याय उनके पक्ष में हो जाता है; परन्तु सत्यता यह है, कि इस प्रकार का नाम निरा बुर्के का काम करता है। यह क्या न्यायपूर्ण बात है, कि स्त्रियों को पर्दे में रखा जाये ? या क्या न्यायपूर्ण बात है, कि आदमी की कीमत उसकी तनखाह और उसके सामाजिक स्थान (स्टेटस) से की जाये ? क्या यह न्यायपूर्ण है, कि पुरुष चाहे जितने विवाह करे और स्त्री के एक पतिव्रत की तारीफ में पुल बाँधे जायँ ? क्या यह न्यायपूर्ण है, कि मैं इस तरह की 'अपनी-अपनी धुन, अपने-अपने राग' की बातें सुनाऊँ और आप बिना हँसे, बिना गुदगुदी महसूस किये सुनते ही चले जायँ ?

सत्य और न्याय के नाम पर इस तरह दुनिया में, इतिहास में और साहित्य में, आज तक अनेक बातें हुई हैं जिससे मन प्रसन्न भी हुआ है और खिन्न भी। भिश्ती को जब डेढ़ दिन की बादशाहत मिली तो अपनी चमड़े की मशक के सिक्के उसने बनाये और सत्य और न्याय के नाम पर चलाये। उसी तरह से रोज़ न्यायालयों में जो बहस-मुबाहसे होते हैं, सत्य की ओट में अन्याय छिपने की और न्याय की ओट में अन्याय अपनी कालिमा धोने का जो प्रयत्न करता है वह भी नित्य परिचय का है।

अन्त में आपको 'विधाता' नाम की एक छोटी बंगाली कहानी सुनाता हूँ, जो मैंने बनफूलेर गल्प में पढ़ी थी उससे न्याय का सत्य रूप पता लग जायेगा। एक दिन ब्रह्माजी अपनी भंग-वंग छान मौज में बैठे थे, कि आदमियों की भीड़ की आवाज़ सुनाई दी। वे चिल्ला रहे थे, कि—बाघ का बड़ा उपद्रव है। वह हमें खा जायेगा। विधाता ने सुनकर कहा—'अच्छा'। फिर बाघ उनके दरबार में पहुँचा, बोला—'आदमी हमें बहुत सता रहे हैं। हमें जीने भी दोगे या नहीं?' विधाता ने सुनकर कहा—'अच्छा!' इसी तरह चीन देश से पुकार उठी, कि जापान हमें तंग कर रहा है। विधाता ने सुनकर कहा—'अच्छा!' और जापान से इसी तरह की शिकायत आई, कि चीन हमें तंग कर रहा है। फिर विधाता ने कहा—'अच्छा!' अंततः दोनों पक्ष की शिकायतें सुनते-सुनते विधाता के कान पक गये और आखिर में चतुरानन अपने आठ कानों में सरसों का तेल डाल कर लम्बी तान कर सो गये। वह तब के सोये हैं सो अभी तक जागे नहीं।

दरबार ड्रैस

यह उस जमाने की कहानी है जब हमारे देश में छोटी-छोटी रियासतें हुआ करती थीं। हर ठिकाने का ठिकानेदार और रियासत का हिज हाईनेस अपने आप को नवाब वाजिदअली शाह या महामंडलेश्वर महाबलाधिपत्य सम्राट चक्रवर्त्ती से कम नहीं समझता था। जिन्दगी के कई पहलुओं में रंगीनी थी, मगर साथ ही हँसने का भी मसाला काफी था। ऐसी ही एक छोटी रियासत में साल में एक बार महाराज साहब अपने महाराजपन का खिराज दरबार के रूप में जरूर वसूल करते थे। अन्यथा अपने क्षत्रियत्व का वह और कहाँ प्रताप दिखा पाते? उसे दिखाने के दो ही स्थान थे—महल में अपना जनानखाना और बाहर दरबार में उत्सव।

दिल्ली दरबार कैसा रहा होगा, पता नहीं? पर किंवदंती थी, कि वर्तमान महाराज (जो नाबालिग थे) के दादा के पिता ने जार्ज पंचम से हाथ मिलाना स्वीकार नहीं किया था; क्योंकि यह हमारे हिंदू शास्त्र और धर्मग्रंथों के खिलाफ था। 'विदेशी भाषा न सीखो' का प्रतिपालन तो अभी तक, यानी रियासतें खालसा होने से पहले तक, महाराज करते ही थे।

मगर जार्ज पंचम ऐसे कैसे मानने लगा? उसने महाराज के दादा के पिता के भुजदंड का माहात्म्य पहचान लिया था। नतीजा यह हुआ, कि बहुत अनिच्छापूर्वक उन्होंने इस तरह से हाथ मिलाया जैसे कोई झींगुर हाथ पर चढ़ आया हो और वह उसे झटक रहें हों। कहते हैं,

कि वहाँ से आते ही महाराज के दादा के पिता ने सचैल स्नान कर लिया, अंग्रेज साहब की छूत लगे जरी के कपड़े नौकरों को दे दिये।

इस महादेश में परिवर्तन आनन-फानन घटित हो जाते हैं। ऐसे साहब का मुख देखने पर दो दिन उपवास कर के प्रायश्चित्त करने वाले महाप्रतापादित्यसिंह जू देव की चौथी पीढी ने एक अंग्रेज बीवी ही कर ली और वर्त्तमान महाराज की दाई विलायत से मँगाई गई थी। ऐसे महाराज की रियासत में हर साल जो दरबार होता था, वह बडी भारी मुसीबत थी। बस चलता तो महाराज अपनी रियासत के हर ठिकाने, गाँव, तहसील, नगर, देहात में स्वयं जो कर उपहार के रूप में टैक्स वसूल करते, पर बेचारे क्या करते—नाबालिग थे। दरबार में भी बैठ पाते थे, तो दर्शक के रूप में ही। जब इन महाराज कुवर का जन्म हुआ था, तब राजकवि श्रीचरनदास ने कवित्त लिखे थे और उनमें लिखा था, कि अब हर उर-उर में आशा की आतिशबाजी लग गई है।

जिस ठिकाने की हम बात कर रहे हैं उस ऊँटयाखेडी में महाराज कुंवर साहब की सिर्फ तस्वीर ही रखी जाती थी। राजभवन में प्रजा और शासनाधिकारी आकर अपना प्रेम और राजनिष्ठा उसके आगे झुक-झुक कर आदाब बजा कर और एक अशरफी तस्वीर पर निछावर कर के पास के थाल में डाल कर ही व्यक्त करते थे।

प्रिंसिपल बिरियानी विलायत से सन् १९२७ में लौटे और तब से उस रियासत में ही विविध ओहदों पर काम करते रहे। विलायत में उन्होंने दर्शन-शास्त्र पढ़ा था, इसलिए रियासत में मनुष्य और दूसरे पशुओं की समानता का ध्यान रख कर पहले उन्हें घोड़ा डाक्टर बनाया गया। पशुओं की मृत्यु संख्या जब बढ़ने लगी; क्योंकि बिरियानी के लिए जीवन और मृत्यु में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता था, उनके दर्शनशास्त्र में दोनों एक ही चीज़ के दो नाम थे—तब उन्हें अजायबघर का क्यूरेटर बना दिया गया। मगर वहाँ भी कुछ अजीब-अजीब बातें

होने लगीं। एक घुन लगी हुई लकड़ी की शहतीर के अक्षर ब्राह्मी लिपि के हैं, ऐसा समझ कर जो उसे पुरानी तस्वीरों के कमरे में रखा, तो सब पुराने हाथ के लिखे ग्रंथ और पोथियाँ कीड़े खा गये; पर इस बात पर उन्हे पदच्युत करना या वेतन घटाना तो दूर रहा, उनकी तरक्की कर दी गई। इस बार सड़के बनाने वाले महकमे का इन्चार्ज बना दिया गया। कुछ बरसों बाद डाक-बंगले बनवाने में उन्होंने बहुत रुपया खाया। आखिर जब वह अपना बंगला ऊँटयाखेड़ी में बना चुके, तो उन्हें लड़कियों के कालिज का प्रिंसिपल बना दिया गया। उनके बाल सफेद हो गए थे, इसलिए लड़कियों के कालिज का प्रिंसिपल बनने में कोई कानूनी आपत्ति नही थी।

अब तक नौकरी में या तो बिरियानी दोरे पर हुआ करते थे, या उनके लिए दरबार मे जाना जरूरी नही था। पर किसी ने महाराज कुवर साहब के कानों में फुसफुसा कर कहा, कि आप जानते नही, विलायत में लड़ाई छिड़ी हुई है। पता नहीं किस दिन जर्मनी के ठाकुर साहब हिटलरसिंह ऊटयाखेड़ी में आ जाएँ। उन्हें आर्यों के बहुत से गुप्त ग्रथ और तत्र विद्या मालूम है। कही आपकी रियासत न छीन लें। इसलिए ज़रा कड़े होकर सब नागरिकों की राजनिष्ठा को हिला कर पक्का करना चाहिए। यानी सौ रुपए से ऊपर की तनखाह वाले लोगो के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाए कि वे दरबार में आएँ।

अगर ऐसा नही किया तो दुनिया में जिस ब्रिटिश साम्राज्य का सूरज कभी डूबता नही है, उस के खैरख्वाह हिज हाईनेस, आलीजाह बहादुर, परम राष्ट्र-भक्त, हिन्दू धर्म ध्वजा सरक्षक, अनेक-नारी-हृदय-विजेता इत्यादि-इत्यादि महाराज कुवर साहब की प्रजा उनके हाथों से खिसक जाएगी। किस्म-किस्म के झंडे चल पड़े हैं—तिरगा, लाल, हरा और नीला। तो बेहतर यही है, कि चन्द्रवंश या सूर्यवंश या जिस भी नक्षत्रवंश का यह राज्य है, उस के प्रति प्रजा की राजभक्ति की

जाँच कर ली जाए, उसे सीमेंट की तरह पक्का बना दिया जाए।

हुक्म जारी हुआ, कि लड़कियों के कालिज के प्रिंसिपल बिरियानी को भी दरबार में जाना पड़ेगा। अब बिरियानी को चिंता हुई, कि दरबार ड्रेस कहाँ से लाई जाए, कैसे बनवाई जाए? पहले तो यही पता नहीं था, कि दरबार ड्रेस होती क्या है? पूछ-ताछ की तो पता चला, कि उस का पूरा विवरण इस प्रकार था।

पैरों में काले चमकीले पंप शू, जिनके सिरे पर तितली, जैसे गले में लगाई जाने वाली बो, जैसी गाँठ होती है। (जूते अगर स्टेट लैदर फार्मेसी के हों तो अधिक राजनिष्ठा मानी जाएगी।)

काले मोजे, अगर मोजे का रंग काले के बदले दूसरा हुआ तो वही उनका मुँह भी काला कर दिया जाएगा। (मोजे अगर स्टेट होजरी से लिए जाएं तो अधिक राजनिष्ठा मानी जाएगी।)

चूड़ीदार पाजामा, नाड़ा केसरिया रंग का होना चाहिए। इस रंग के लिए ऐतिहासिक आधार स्टेट स्कालर इतिहास-कुमारजी ने प्रस्तुत किया है।

लाल रंग की बास्कट, जिसके बाईं ओर के हिस्से पर जरी के फूलों का काम हो।

महीन मखमल का सफेद अंगरखा, जिस पर फूलदार काम वाली आस्तीनें हों। गले में फूलदार काम की या जरी की पट्टी। इस बारह-बंदी के बाईं ओर बटन नहीं, बल्कि फीते हों।

एक लाल रंग का कमरपट्टा, जिस में गहरे जामुनी रंग की मखमल वाली म्यान। तलवार चाहे अन्दर न हो, पर ऊपर मूठ जरूर दिखाई दे।

एक जरी का उपरने जैसा अगोछा।

सिर पर पगड़ी या साफा, पगड़ी तिकोनी, कच्छी, पारसी, मरहठी, बंगाली कैसी भी हो सकती है? साफा लहरिएदार हो और उस का पल्लू या तो नीचे छूटा हुआ हो या ऊपर चीनी पंखे की तरह खोंसा हुआ।

छाता कोई भी नही काम में ला सकता था, क्योंकि छत्रधारी तो सिर्फ महाराज कुवर साहब थे। इस के बाद कई और नियम उपनियम इस बात के थे, कि दरबार हाल में आया कैसे जाए ? झुक कर सलाम कैसे किया जाए, कमर कितने डिगरी के एंगिल पर झुकाई जाए ? पगड़ी गिरनी नहीं चाहिए। तीन बार आदाब कितने धीमे और कैसे किया जाए ? अशरफी किस हाथ में हो और रूमाल किस हाथ में ? पीछे मुड़ कर नही देखना चाहिए। लौटते वक्त महाराज कुवर की तस्वीर को पीठ नही दिखानी चाहिए --इत्यादि इत्यादि नियमों का एक पूरा शास्त्र था।

अब समस्या थी दरबार ड्रैस बनाने की, बल्कि इधर-उधर से जुटाने की। हमेशा अंग्रेज़ी सूट पहना था। साफा माँग कर लाए, तो उसे बाँधना नहीं आता था। एक से चूड़ीदार पाजामा लाए, दूसरे से अचकननुमा अंगरखा। भडकीली लाल बास्कट कहाँ से लाएँ ? श्रीमतीजी की जरी की बनारसी साड़ी का उपयोग किया गया। जब सारा सरंजाम हो गया, तो पता लगा तलवार की म्यान तो है, पर मूठ और म्यान का संयोग ठीक से नहीं हो रहा है। उसे रस्सी से बाँधा। वही हाल चूड़ीदार पाजामे का था। उसके लिए नाड़ा नहीं मिल रहा था। पुरानी साड़ी की किनारी से वह कार्य भी संपन्न कर लिया गया। अब वह अच्छे खासे कार्टून लगते थे। ऐसी मुद्रा में अपनी विद्यार्थिनियों के तो क्या, किसी के भी सामने नहीं पड़ना चाहते थे।

एक बन्द मोटर में बैठ कर सूबा साहब की कोठी पर पहुँचे, जहाँ दरबार होने वाला था। कई धजाओं में ऊँटयाखेड़ी की मानवता वहाँ उपस्थित थी। पहले एक रस्म होती थी। एक सोने का छोटा सा पुतली नाम का गोल सिक्का एक कमरे में मिलता था। उसका मूल्य साढ़े सात प्रतिशत के हिसाब से तनख्वाह से कट जाता था। सिक्का सब को एक सा दिया जाता था। बिरियानी वह लेकर किसी तरह धड़धड़ाते हुए दिल से अन्दर पहुँचे।

सूबा साहब की कोठी के दीवानखाने को सजा कर दरबार का काम लिया गया था। बिरियानी उस में दाखिल हुए, उन्हें महाराज कुंवर के मास्टर का किस्सा याद आ गया। एक बार मास्टर ने उन्हें चाँटा मार दिया। कुंवर साहब रोने लगे, उनके पिताजी ने गरीब मास्टर को बुलाया और पूछा, "ऐसो कैसो हुओ ?"

मास्टर ने दस्तबस्ता कहा, "हुजूर,कुंअर सा, भण नहीं रये ते, तो म्हणे ऊण कूं एक चांटा पेश कियो, तो कुंवर सा आँसू फुरमां दिया, जी।"

यहाँ खुद बिरियानी की हालत उन कुंअर साहब जैसी हो रही थी। सामतवाद पर पढ़े ग्रथ आँखों के सामने भूत की तरह नाच रहे थे।

कुंअर साहब की तस्वीर के पास चार-पाँच ब्राह्मण वेदमत्र पढ़ रहे थे। नारियल हाथ में थे। नंगे बदन, कंधे पर लाल शाल। धूपदीप, पूजापाती का सारा सरंजाम। हाल के दूसरे सिरे पर मुजरे का प्रबध था, सोलह सौ कलियों का गोटेदार किनारी का घाघरा और सस्ती ओढ़नी, गिलट के गहने पहने मेनका, उर्वशी, रंभा का स्थानीय सस्करण अपना पानरँगा मुख और 'काजल सुरमा अजित लोचन द्वै', लेकर रीतिकालीन समां १९४६ में निर्माण करने का निष्फल यत्न कर रही थी।

एक-एक कर लोगों के नाम पुकारे जाते और दरबार ड्रैस में लैस अफसर तस्वीर के सामने तीन बार झुक कर कोर्निश करते और लौट आते।

प्रिंसिपल बिरियानी का नंबर ज्यों-ज्यों पास आ रहा था, उन का दिल बैठा जाता था, उन्हें पसीना छूट रहा था, आखिर उनका नाम पुकारा गया।

वह उठ खड़े हुए और आगे बढ़ कर, जैसे ही उन्होंने झुक कर महाराज कुअर की तस्वीर को सलाम करने के लिए हाथ उठाया कि झटके के साथ उनका हाथ तलवार की मूठ पर जा पहुँचा। बिरियानी

की निगाह दरबार हाल में चारों ओर घूमी। दरबार में आए हुए लोगों की भौंह तन गईं। पर अगले ही क्षण बिरियानी सपाटे के साथ दरबार हाल से बाहर हो गए।

बाद में मालूम हुआ, कि तलवार की मूठ पर हाथ जाने का आशय यह नहीं था, कि बिरियानी महाराज कुंअर के खिलाफ बग़ावत करना चाहते थे, बल्कि कमरपट्टा अचानक खुल जाने के कारण वह म्यान को अपनी जगह से खिसकने से रोकना चाहते थे, और इसी घबराहट में वहाँ से भाग खड़े हुए थे।

पर

'पर कहूँ क्या पर-कटे परदेस में,
आप-पर का भेद मिटता जाम पर !'

किसी मधुशाला में यह दो पंक्तियाँ लिखी हुई थीं। नशा ऐसी ही मज़ेदार या खौफनाक चीज़ है। उसमें आप पर का भेद आदमी भूलता जाता है। फिर वह उन्माद या नशा प्रेम का हो, चाहे धर्म का, चाहे राजनीति का।

मगर आज कल तो वह मौसम है जब पिया परदेश छाये रहते हैं, परकीया नायिकाएँ रीतिकाल में तड़पा करती थीं (आजकल वैसी सुविधा नहीं है !) और चिउटी के भी पर उग आते हैं। एक उम्र है, एक वक्त है, एक मौज है जब सभी प्राणी अपने आपको परिन्दा समझते हैं, परवाज़ समझते हैं, परवाना समझते हैं। ऐसी उम्र में, ऐसी अवस्था में, पर वालों का स्त्रीलिंग 'परी' बन जाता है। चाहे उसमें हूर का नूर न भी हो, फिर भी यह तो शायरों की आँखें हैं जो 'जहाँ जाओ नया आलम है !' पैदा कर देती हैं। परन्तु यह परवानों और परियों के चर्चे आजकल व्यर्थ हैं, जहाँ कि 'पर' का केवल एक अर्थ बचा है और वह पंखों से कोई सरोकार या सम्बन्ध नहीं रखता; परन्तु सीधा-सच्चा दूसरा, बेगाना, जो अपने से अन्य, भिन्न से सम्बन्ध रखता है। कवियों को बेपर की उड़ाने दो, हमारे तो पैर इसी ज़मीन पर टिके हैं और अपने तो पर ही नहीं जमते तो 'पर' कौन ? जो अपना नहीं वह पर ! यानी जो अपनी जात-बिरादरी का नहीं, अपने

प्रान्त और बोली का नहीं, जो अपने धरम-करम न माने सो सब पर। परन्तु उसमें भी इस अपनत्व और परत्व के भेद में भी पर्त-पर-पर्त हैं। अगर कोई 'पर' अपने में से हो, तो चल सकता है—जैसे मोटर खरीदनी हो, या प्लास्टिक का कोई फैशनेबुल सामान खरीदना हो, तो वह परदेसी नही, कदापि नहीं—वह तो देश के व्यापार की वृद्धि करता है; मगर कही तुमने परदेशी समाजवाद-फमाजवाद वगैरा जर्मनी-रूसी किस्म के महाविदेशी और भारतीय संस्कृति-विनाशक तत्वों का नाम ले लिया तो बस—अब्रह्मण्यम् ! शान्तं पापम्, शान्तं पापम् !! तब तो गंगाजल से नहा कर भी प्रायश्चित शायद ही मिले !

यों इस 'पर' के कई 'परकार' हैं। उन्हें नापने का 'परकार' आपके पास होना चाहिये बस। जैसे दर्शन में इन परों का बिल्कुल दर्जा-बदर्जा, सीढ़ी-दर सीढ़ी हिसाब लगा दिया गया है—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः . इत्यादि इत्यादि। कौन किससे पर, और अपर है इसकी कथा कहाँ तक कहें ? परा अपरा वाणी के दो प्रकार माने गए हैं। परन्तु इस स्वाधीन देश में पापी अभी भी जहाँ पराधीन हैं (यहाँ पर से तात्पर्य प्रकाशक—मुद्रक—कागज बिक्रेता-सेंसर आदि-आदि से है) वहाँ परान्नपरिपुष्ट परमार्थी ही अधिक मिलेंगे। वे परछिद्रान्वेषी और परानुवर्ती, परम्परा-प्रवीण और पर व्रणसंशोधन धर्मी मिलेंगे। उन्हें परहरण में कोई हिंसा नहीं जान पड़ेगी, न परपीड़न में कोई असत्य ! परदारा उन्हें ऋग्वेद के 'अथापि लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे' जान पड़ेगी। परभाषा उन्हें वैसी ही स्वकीया जान पड़ेगी जैसे उर्दू लिपि का आग्रह !

उर्दू कवि दर्द ने लिखा है—

हमने किस रात नाला सर न किया
पर उसे आह कुछ असर न किया

इस 'पर' का प्रयोग कवियों ने बड़े-बड़े अन्दाज़ के साथ किया है ! ज़ौक फ़रमाते हैं—

ख्वाह गर्दिश है जमीं को, ख्वाह फिरता है फलक
पर हमें ज़ेरे फ़लक, सर मंज़िले राहत नहीं ।
कहते हैं मर जायें गर छुट जाये गम के हाथ से
पर तेरे गम में हमें,. मरने की भी फ़ुरसत नहीं ।

'भारत-भारती' में कवि ने इस 'पर' को बहुत उड़ाया है । पृष्ठ १२६-२७ पर ही तीन पंक्तियाँ 'पर' से शुरू होती हैं—

(१) पर अब पथों को ही यहाँ पर; धर्म हैं हम मानते !
करके परस्पर घोर निन्दा; व्यर्थ ही हठ ठानते ।
(२) धृति, शान्ति, शौच, दया, क्षमा, शम, दम, अहिंसा, सत्यता;
पर हाय ! इनमें से किसी का आज हम में है पता ?
(३) परमार्थ की—संसार की भी—सिद्धि का वह धाम है,
पर वाद और विवाद में ही आज उसका नाम है !

इस 'पर' की यह पर-वशता है !

ज़रा सोचिये जीवन में कोई किन्तु परन्तु न होता, सब-कुछ सीधा-सच्चा, सरस-सहज-सुगम हो जाता, तो फिर क्या चाहिये था ! फिर तो कोई बाधा ही न रहती, कोई संघर्ष के लिये अवसर ही न आता; तो जीवन का आधे से अधिक आनन्द नष्ट हो जाता ! चार्ली चेपलिन के एक फिल्म 'माडर्न टाइम्स' में ऐसा वर्णन आता है कि वह मज़दूर जो कि फ़ुरसत के लिये लालायित है स्वप्न में ऐसे देश में पहुँचता है जहाँ किसी आदमी को काम करना नहीं पड़ता; प्रकृति अपने आप आगे बढ़ कर सब फल देती है, अंगूर के गुच्छे बढ़-बढ़ कर सीधे मुँह में चले आते हैं; गाय के थनों से दूध की धार बिना टूटे बहने लगती है इत्यादि । इससे स्पष्ट है कि मनुष्य स्वभावतः आलसी प्राणी है और यह किन्तु-परन्तु यदि न हो तो उस आलस्य की अनन्त प्रकार से वृद्धि ही होती ।

पर के साथ पंखों का आ जाना स्वाभाविक है और पंख चूँकि बेपर की बात लेकर उड रहा है, पंखों की चर्चा अप्रासंगिक नहीं। वैसे तो पक्षियों के रंग-बिरंगे पंख होते ही हैं, उनमें भी मोरपंख का माहात्म्य विशेष है, उस प्राणी में पुरुष पंखेल होता है, मादा बिना उतने लम्बे और सुन्दर पंखों की। प्रकृति में सर्वत्र प्राणीशास्त्र के अनुसार, पुरुष सुन्दर होता है, मादा उतनी नही। परों का परिधान मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिये ग्रहण कर लिया है और केवल दक्षिणी अमरीका के आदि 'लाल भारतीय' ही नहीं; परन्तु पेरिस की फैशन प्रिय 'प्रोषित-पतिका' और 'प्रवत्स्यत्-पतिका' प्रमदाएँ भी उनका प्रचुर प्रमाण में उपयोग करती हैं। हैट में पंख लगाना अंग्रेजी में विजय-सूचक चिह्न है, तो हमारे यहाँ पंख मात्र से एक प्रकार की घृणा व्यक्त की जाती है। एक ब्राह्मण महोदय ने एक विशेष मकान में रहना इस लिये पसंद नही किया कि उस मकान के सामने मुर्गा-मुर्गी दिखाई देते थे। हमारी धर्म-सम्बन्धी उदारता और सहिष्णुता इस सीमा तक पहुँच चुकी है!

पर किसी को परकीया नायिका को ध्यान चाहे आता हो—हिन्दी में तो कई दिग्गज अपनी शक्ति इसी में खर्च चुके हैं कि राधा स्वकीया थी या परकीया?—आज हालत यह है कि मकानो की तंगी की वजह से और कई कारणों से 'अपने ही घर में विदेशिनी' की हालत में भारत माता के सपूत रहते हैं। हिन्दी के प्रेम सम्बन्धी अधिकांश गीत परकीयाओं के ही प्रति हैं—अपनी स्वयं की पत्नी के प्रति किसी हिन्दी कवि ने कोई स्तोत्र लिखा हो, ऐसा सुनने में नही आया। भावी पत्नी के प्रति लिखने वाले पंत, तो अभी भी बालब्रह्मचारी हैं और उनके चेले का विवाह हाल में ही हुआ है—पता नहीं अब वह 'भावी' पत्नी 'भूत' पत्नी होने पर उतने ही विशेषणों का विषय बनी रही है या नहीं! हमारे मित्र अज्ञेय जी ने तो पहला विवाह भी नहीं हुआ

था तब 'द्वितीया' कविता लिखी और पुराने विधुर बनारसीदास जी चौबे ने उनकी पीठ ठोंकी। यह पर-प्रेम इन अधिकांश कविताओं को कृत्रिम बना डालता है। वैसे तो सभी लेखक और लेखिकाएँ कम-अधिक प्रमाण में पर-मन-प्रवेश कर सकते हैं—तभी तो वे दूसरों के अनुभव को आत्मीय बनाकर लिख सकते हैं। 'पर स्त्री मात समान' मानने वाले महानुभावों को क्या कहे; किसी उर्दू शायर ने ठीक कहा है—

क्या शेख की तल्ख ज़िन्दगानी गुज़री
बेचारे की एक शब न सुहानी गुज़री
दोज़ख के तसव्वुर में बुढ़ापा गुज़रा
जन्नत की दुआओं में जवानी गुजरी !

'पर' देशी विचारों को राजनीति में देखकर सब से ज्यादा नाक-भौं सिकोड़ने वाले परदेसी चीजों के सब से बड़े ग्राहक होते हैं। विदेशी 'कारें' उन्हें प्यारी हैं; 'प्लास्टिक्स' उन्हें चाहिए; 'मशीनरी' अमरीका मामा देगा—मगर उन्हें सब से अधिक चिढ़ है समाजवाद पर जो उनके मत से महाविदेशी है। इससे मुझे एक पुरानी कविता (अपनी) याद आ गई—

परदेसी से नेह क्या हुआ, परदेसी यह गेह हुआ।
बड़ा निठुर-सा, कभी न बरसा, परदेसी यह मेंह हुआ॥

पर की इस मीमांसा में मैं दार्शनिक 'स्व' 'पर' में जान-बूझकर नहीं घुसा, क्योंकि फिर तो बात बहुत लम्बी हो जाती। क्या है पर और क्या है अपर ? और कौन-सा है परापर ? यह परब्रह्म-विचार अभी स्थगित करता हूँ; क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि—

जब दिल ने दिल को जान लिया
जब अपना-सा सब मान लिया
तब गैर-बिराना कौन बचा
गर बचा सिर्फ तो मौन बचा !

करतार ने कविता छोड़ दी !

कहानी उस सिरजनहार करतार की नहीं, इस मृत्युलोक की और उस पर भी विभाजन के बाद के उत्तर भारत के कवि करतार की है। करतार कवि कैसे बना और उसने कविता कैसे छोड़ दी, इस बात की लघु-कथा है।

जब विभाजन के बाद, दैव की मार से, करतार ने अपने आपको भारत की राजधानी में पाया और किसी भी भाषा का ज्ञान ठीक से न होने से, उसने अपने आपको पंजाबी, उर्दू तथा हिन्दी इन तीन भाषाओं का जानकार बतलाकर कई जगह नौकरी के लिए कोशिश करते हुए निराशा हाथ आई हुई देखी तो, करतार ने यह निश्चय किया कि बेकारी का सब से बड़ा कारगर नुस्खा—कवि बना जाय।

इसके बाद उसने बाजार की टटोल शुरू की। होंगे वे संत सूरख जो कविता को 'स्वान्तः सुखाय' मानते थे; होंगे वे राजाश्रय पर पले बिहारी आदि जो एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी पाते रहे—अब तो कविता लिख कर ही जीना है तो क्या किया जाय ? प्रकाशक लोग कविता संग्रह छापते नहीं, अतः स्वयं ही संग्रह छापे जायँ और गली-गली भोंडे गले से, नक्की, बेसुरी आवाज में गाकर सुनाये जायँ। अरे इसमें देखने की सिफत की बात यह है कि कौन कविता की मारकीट तेज है। ये प्रयोगवादी वगैरह जो कविताएँ गद्य जैसी टूटी-टाटी इधर-उधर छप जाती हैं, यह तो निरा परस्पर-मान्यता है, मिलीभगत है, आपसी दोस्ती का मामला है, गधे और ऊँट की 'अहोरूपमहोध्वनि' है। इसे साहित्यिक, आलोचक वगैरह लोग बहुत पसन्द करते और

उसके बारे में चर्चा करते हैं, सो यह 'एनिमी नम्बर वन'—इनका डटकर मुकाबला हो। गली के एक कोने से भूँक शुरू हो गई; भु भुः कार फैल गया। कोई इस क्षेत्र में आने न पाये।

अब यह क्षेत्र कौन-सा है? कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ने के लिए जो जरूरी उपादान हैं, वे सब करतार ने जमा कर लिए। एक शेरवानी, या लम्बा कुरता, एक धूप-चश्मा लम्बे अनकटे, बाल, पान से रंगा मुँह, बेफिक्र गालियों से भरी मुँह-फट बात-चीत, अपने आपको 'जीनियस' समझने की आदत; सिगरेट, शराब-तम्बाकू आदि सभी व्यसनों में महारत इत्यादि। इसके बाद भी कवि करतार को कोई पूछता नहीं था।

तो पहला नुस्खा उसके कवि सम्मेलनी मित्रों ने यह सुझाया—देखो, दोस्त ऐसे नहीं; गर्मागर्म प्रगतिवादी कविता लिखो। मुशायरा सुनने के आदी यह जनता इसे पसन्द करती है। मार, आग, तूफान, रक्त, काट, हिंसा, तोड़-फोड़, उग्र, भयंकर, श्मशान, महालपट, भूख-भूख-भूख, उठो-जागो, मेहनतकश, मजलूम, शोषित-पीडित, वंचित-मुंचित—यह सब शब्दावली उसने ठीक-ठाक कर ली। पर बाद में किसी ने कानों में हल्की आवाज़ में फुसफुसा दिया—'ज़रा सरकार की निन्दा थोड़ी हाथ बचाकर! कल बेटा नौकरी नहीं मिलेगी!'

करतार ने कहा—'अच्छा! ऐसा ही होगा!'

गर्मागर्म, मसालेदार, चटखारे लेकर पकौड़ियाँ खाने वाली जनता की नज़र में करतार इन्कलाब का मसीहा बन गया। प्रयाग के किन्हीं हिन्दी और उर्दू के आलोचकों ने लिख दिया—'विश्व में अगर शान्ति होगी, जंग रुक जायगी तो वह कवि करतार की पंजाबी और हिन्दी शायरी से!' एक दूसरे अखबार में सुर्खी देकर छापा गया—'अब एटम बम का खतरा नहीं रहा!' पढ़िये कवि करतार का कलाम—'कबूतर के कबाब!'

मगर यह जादू ज्यादा दिन न चल सका। फिल्मी तबीयत के शौकीन श्रोताजन कुछ और रंग चाहने लगे। कानपुर के कुछ कवियों ने इश्किया और फलसफाना शायरी से सैकड़ों मासूम महिलाओं, कच्ची किशोरियों, मालदार मारवाड़ियों के दिल निचोड़ लिए थे। करतार ने सोचा कि यह रंग कहाँ से लाये ?

तो करतार ने सोचा—चलो अब प्रणय की कविता लिखें। बच्चन, नीरज इत्यादि की रचनाएँ उन्होंने कण्ठस्थ कर ली। पर अब उसमें सच्चाई कहाँ से आये ? एक आलोचक बोले—मिथ्या कल्पना, छद्म अनुभूति है !

तो फिर करतार ने अपने दोस्त से सलाह ली। वे बोले—'इश्क की कुछ तरकीब करो।'

अब इश्क कैसे किया जाय ?

कवि करतार के गाँव की एक एम० एल० ए० की लड़की थी। एम० एल० ए० तो बेचारे अब हुए थे—लड़की को वह अरसे से जानता था। अब कोई तरकीब खोजी जाय कि उससे भेंट हो।

आखिर इस राष्ट्रीय, प्रगतिवादी, विप्लवकारी कवि ने वह कमाल किया कि क्या कहिये। सुना कि गाँधी जी की पवित्र समाधि राजघाट के लान को इस कविपुंगव ने अपना संकेत-स्थल चुना। समाज-सुधार क्या समाज-क्रान्ति, और उसके द्वारा समाज का मंगल और कल्याण करने का तो ठेका उसने लिया ही था। ऐसा काम और किसी कवि ने किया नही था ?

मगर हाय रे दुर्भाग्य ! बजाय प्रेयसी के कवि करतार को वहाँ जूतों की पिटाई मिली।

वह दिन है कि अब कवि करतार ने कविता लिखनी छोड़ दी। अब वो 'सोज़' लिखते हैं। उस लड़की के नाम गुमनाम गद्य काव्य लिखते रहते हैं। दाढ़ी उन्होने बढ़ा ली है। दोस्तो को चाय पिलाकर

'इत-उत प्रकाश' करने के लिए प्रेरणा पाते रहते हैं।

वैसे करतार जैसे कवियों के लिए शहर में 'प्रेरणा' बहुत सस्ती है। बीयर के दाम थोड़े बढ़े हों, तो भी देसी ठर्रे के ज्यादा नही बढे हैं। वे कविता को जीवन का महान् नशा मानकर चलते हैं।

उनके मित्रों को उम्मीद है कि जल्दी ही उन्हें नोबल प्राइज़ मिलेगा।

अभागिनी राष्ट्र भाषा हिन्दी ! ऐसे महाकवि को पाकर भी वह कृतार्थ नहीं होती !

इधर अब उन्होंने नया मोर्चा शुरू किया है और हास्य व्यंगावली भी लिखने लगे हैं। हास्यरसावताराचार्य महाकवि श्री भूपालप्रसाद जी ने उन्हे मूर्ख-सम्मेलन में आमन्त्रित भी करने का वचन दिया है। नवोदित साहित्यकारों के सब से बड़े सहकारी प्रोत्साहनदाता तथा काव्य-कला-कचूमर' के सम्पादक डाक्टर 'रुग्ण' ने उनके भावी काव्य-संग्रह की भूमिका लिखने का आश्वासन दिया है। इससे और एक अतिरिक्त लाभ है कि इन दोनों कर्मठ हिन्दी सेवियों के कई विरोधी एक साथ इस नई पुस्तक की कठोर समालोचना कर डालेंगे। उससे बचने के लिए महावीर कवच की भाँति सम्मतियों का एक ज़िरह-बख्तर उन्होंने तैयार करवा लिया है। सर्व श्री दादागुरुओ से लगाकर कवि सम्मेलनों के संयोजक पाधा चेला जी तक की पचास सम्मतियाँ वे बटोर चुके हैं। एक महाकवि ने सम्मति दी है—'श्री करतार जी की रचनाएँ पढने को मुझे समय नही था। न कोई रचना इनके श्री मुख से सुनी है। पर भाई डा० क० जब कहते हैं. तो जरूर करतार जी में विश्व साहित्य के महान् तत्त्व मौजूद होंगे।' दूसरे ने लिखा—'होमर के बाद यही कवि पैदा हुआ !' तीसरे के शब्द थे—'सूर के बाद इतने गीत आप ही ने लिखे।'

यों करतार की पहली कविता पुस्तक अभी भी अप्रकाशित है। किन्तु ताजी खबर मिली है कि उन्होंने कविता लिखना छोड़ दिया है।

देसी-विलायती

पीपल के पत्ता हलर हट्टया,
अंग्रेजवा के राज्य में रे दोस !
रात दिन फलर कइया,
अंग्रेजवा के राज में रे दोस !
—एक गोंड लोकगीत

हमारी स्वतन्त्रता चार बरस की हो गई; यानी 'स्वतन्त्रता' नाम की कोई छोटी बच्ची होती तो अब वह तुतलाने-बोलने, चलने, अपना नाम बताने और यात्रिक खिलौनों से खेलने लगती। मगर आप कहेंगे, हमारे देश, वैदिक ऋषि-मुनियों वाले पुराने आर्य-देश, तीन हजार बरस पुराने देश, की तुलना आप चार बरस के बच्चे से कर रहे हैं। उत्तर में मैं निवेदन करता हूँ कि महाशय जी, देश कितना पुराना है, या बरगद की कितनी जडें हैं इस गिनती से मुझे कोई मतलब नहीं। मैं तो बात कर रहा हूँ नई-नई कोंपलों की जो इस महावृक्ष पर आई हैं। उन कोंपलों में एक नई चीज़ है—देश-भक्ति की एक नई भावना। सन् २० में और उससे भी पहले जब स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था, तब जो लोग निरे तटस्थ ही नहीं, बल्कि आन्दोलन के विरोधी और शत्रुओं के परम मित्र थे, उनका सहसा अपने मन की दीवार पर से विलायती चित्रों को उतार कर देसी चित्रों को टाँगना एक ऐसी मनोरंजक कहानी है जिसे सुनाए बिना मन नहीं मानता। स्वातंत्र्योत्सव खुशी का अवसर है, हँसने-गाने-नाचने का। आइए, थोड़ा-सा इस नए

'देसी' रंग पर भी हँस लें, क्योंकि अकबर इलाहाबादी खूब फरमा गए है—

आदत जो पड़ी हो हमेशा से,
वो दूर भला कब होती है ?
रखी है चुनौटी पाकेट में,
पतलून के नीचे धोती है ॥

तो 'विलायती' ज़माने में यानी पन्द्रह अगस्त १९४७ से पहले ऐसे नकली साहब तो कई थे। पर अब देसी ज़माने में नकली 'स्वदेश-मित्रम्' भी बहुत हो गए हैं। हमारे मित्र गोरेलाल फिरंगीलाल ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति की शुभ घड़ी में सोचा कि अपने नाम से स्वदेशीकरण शुरू किया जाए तो उन्होंने बजाय गोरेलाल के कालूमल अपना नाम रख लिया। वेश, खान-पान वगैरह में एक दम चोला बदल दिया। खादी के चूड़ीदार पाजामे, अचकन और सफेद टोपी के साथ-साथ उन्होंने जूतों में भी देशीपन ग्रहण किया। बाल अभी विलायती ढंग से ही काटते थे, फाउन्टेन पेन भी पारकर और कलाई पर स्विट्जरलैंड की हाथ-घड़ी शोभायमान थी, पर इसका कोई इलाज न था। ये सब तो आधुनिक जीवन की उतनी ही आवश्यक वस्तुएँ थी जितनी सवेरे से उठते ही कालिनॉस या फोरहैन्स का टूथपेस्ट और ब्रुश, जिलेट का हजामत का सामान और दफ्तर तक जाने के लिए शेवरेलेट की नई माडल। अब इस वस्त्र-परिवर्तन और खाद्य-परिवर्तन से बहुत-सी समस्याएँ पैदा हो गईं। टाइयों का क्या किया जाए ? ऊनी सूटों का और फ्रेंच हैटों का क्या हो ? और देसी ढग से देसी खाना खाने मे इतनी क़ाकरी, छुरी-चम्मच का क्या हो ? चाय के सेट का तो उन्होंने यों उपयोग कर लिया कि चाय तो आखिर हिन्दुस्तान में ही होती है, सेट भी ग्वालियर पाटरी के है—तो ठीक है अगर यह पेय विदेशी जान पड़े तो तुलसी की चाय, बादाम की चाय, धनिये की चाय

आदि प्रकारों का सेवन हो सकता है। हाँ सिगरेट अवश्य विलायती वस्तु है। तो उसके स्थान पर बीड़ी या हुक्के से काम चलाया जाये।

यों आमूल-चूल परिवर्तन करने के पश्चात्त रायबहादुर या व्यापार-वैजयन्त जो भी उनकी पदवी हो ऐसे हमारे मित्र अपने घर के रंग-रूप को देसी बनाने पर तुले। रेडियो विदेश में बना था, पर आज्ञा दे दी गई, कि केवल देसी कार्य-क्रम ही उस पर सुने जाएँ और वे भी देसी भाषा में ही। बिजली के चूल्हे के बजाय देसी चूल्हे पर रसोई बनाने का आदेश हुआ और घर में जितने विदेशी चित्रकारों के चित्र, दृश्य या फोटो थे हटा दिये गये। उनके बदले में स्वदेशी चित्रकारों के कैसे भी चित्र लगा दिए गए? अंग्रेज़ी फिल्में देखना छोड़ दिया गया; अंग्रेजी किताबों का भी खरीदना-पढ़ना भी त्याग दिया गया और देसी अखबारों पर ही गुजारा होने लगा। यों धीरे-धीरे हमारे मित्र का मत भी देसी होने लगा। पार्टियों में विलायती शराबें उड़ाने के बजाय देसी पेयों पर ही काम चलाने लगे और अपने बटन भी उन्होंने ॐ वाले, या तिरंगे झंडे वाले या चर्खे वाले लगा लिए। इस विवरण-पूर्वक स्वदेश-प्रेम में अपवाद केवल यही था, कि उनका शेयर-मार्केट का व्यापार विलायत में भी जोरों से था और अपने लड़के को उन्होंने विलायत पढने भेजा था।

प्राणीशास्त्रज्ञों का कहना है, कि दुनिया के प्राणियों में जितने आकस्मिक परिवर्तन इस तरह गिरगिट के रंग बदलने की तरह होते हैं, वे ज्यादा दिन टिकते नहीं। प्राणियों में अपने मूल स्वभाव की तरफ लौटने की बड़ी प्रवृत्ति होती है। मनुष्य इसका अपवाद नहीं है और हमारे स्वदेशी-प्रिय मित्र का देसी के प्रति यह जबरदस्त आग्रह इन चार वर्षों में काफी मद्धिम और कम-कम होने लगा है। वह उतना उग्र नहीं रहा। धीरे धीरे विलायत के प्रति उनका मौलिक प्रेम पुनः उमड़ने लगा है। अब वह दार्शनिकों की भाँति अपने मन का समाधान कर

लेते हैं, कि यह देसी-विलायती का विभाजन ही मूलतः गलत है। अब दुनिया काफी छोटी होती जा रही है, हमारी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीय हो जानी चाहिए। इसलिए कभी एक मुल्क की और कभी दूसरे की वे तारीफ करते रहते हैं। मसलन चीनियों को देखिये। कैसे मज़े से लकड़ी के टुकड़ों से एक-एक चावल तेज़ी से खाते चले जाते हैं? हमें उनसे यह कला सीखनी चाहिए और इसके लिये वह प्रमाण देने लगेंगे, उन बौद्ध भिक्षुकों का जो ढाई हजार वर्ष पूर्व चीन से हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से चीन में गये थे और ये अमरीकी लोग हैं, इनका हमेशा मुँह में गोंद चबाते रहना कैसा भला जान पड़ता है? अरे, हाँ सुनिए इस प्रसंग में एक कहानी याद आ गई। एक गूँगा-बहरा एक पार्क की बेंच पर बैठा था। पास में एक हजरत 'चिविंग-गम' (गोंद की मिठाई) चबा रहे थे। वह गूँगा समझा मेरी नक़ल कर रहा है। वह ज़ोरों से नाराज़ होकर चिल्लाया—"क्यों मुँह चला रहे हो? यह मत समझो, कि मैं सुन ही नहीं रहा हूँ; अधिक बक-बक की तो तमाचा जड़ दूँगा।"

हाँ, तो ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो हमारे पड़ोसी और दूर के समुद्र पार के देशों से सीखने लायक हैं। इन्हें विलायती कह कर कैसे टाला जा सकता है? बड़े शहरों में शाम को भद्र महिलाओं के चेहरे देखिये। देसी मूल पर विलायती पलस्तर का इससे बड़ा नमूना नहीं मिलेगा; हमारे कई देसी लेखक बीच-बीच में ज़रा रौब डालने के लिये अंग्रेजी-रूसी-ईरानी-टिम्बक्टूवी लेखकों के उद्धरण देते जाते हैं न? ठीक उसी तरह से ये चेहरे होते हैं। देसी मुँह विलायती बात बड़ी नहीं कहलाती और कई बार देसी सेब से विलायती कद्दू भी अच्छा माना जाता है।

तो साहब अकबर इलाहाबादी को अपने लड़के से यह गिला थी, कि—मोम की पुतलियों पर ऐसी तबीयत पिघली, कि चमने हिन्द

की परियों की अदा भूल गये ? पर अब तो हिन्द के चमन की परी भी मोम की पुतला बनने लगी और विलायती पोशाक में भी साड़ी बहुत अच्छा फैशन मानी जाने लगी। तो क्या किया जाए ? असल में देश-भक्ति का परी और पुतली से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। कैटेलिन के जमाने से 'अपने देश के लिये, बच्चों के लिये, घर और चूल्हों के लिए' कह कर सिपाहियों को लड़ने के लिये उकसाया जाता था, पर सच्ची बात यह है, कि 'देशभक्ति ही पर्याप्त नहीं है, हमारे मन में और किसी के प्रति कोई घृणा या कड़ुवाहट नहीं होनी चाहिए।' यह एडिथ कॉवेल की बात बहुत माने रखती है। 'माँ विद्विषावहै !' की आज बड़ी ज़रूरत है। अपना-पराया हम क्यों करें ?

'विलायत' का शब्दार्थ है विदेश या परदेस। और आज वैसे अपने 'देस' में कौन है ? इसीलिये बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली से छुट्टी लेकर नौकर अपने 'देस' जाते हैं न ? यह कुछ मनुष्य का स्वभावदोष है, कि वह उदार नहीं हो पाता। या तो वह अपने से बाहर हर चीज को अच्छा समझता है, या एक दम घटिया। इसी वृत्ति में से आत्म-समर्थन की वृत्ति जगती है। 'अपना सो बाबू और पराया सो बुद्धू-संतान' ऐसे बच्चों के बारे में हमारे प्रदेश में कहावत है। इससे एक चुटकुला याद आया—एक बार हाथी ने विस्मय-चकित होकर चूहे से कहा—"ऊँह, तुम कितने छोटे-से हो ?" चूहे ने जरा शिकायत भरे स्वर में उत्तर दिया—"आजकल ज़रा मेरी तबीयत ठीक नही थी।"

यह हाथी-चूहे वाली बात सब ओर है। हर देश अपने को हाथी और दूसरे को चूहा समझता है। चीन से मैत्री-प्रेम की बात आजकल बहुत चल पड़ी है। चीन की दीवार महान् है, चीन का कुङ फू दार्शनिक महान् है, पर चीनियों के खाने से सौ-सौ, थु-थौ, छौ-छौ तक तो गनीमत है पर अन्य कीट-पतगात्मक भोज-विधि से किसी प्रकार प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता ? उल्टे मितली ही होगी। पर लीन युतांग

साहब है, कि उन्होंने 'मेरा देश और मेरे लोग' ग्रंथ में चीनियों के हर चीज़ की तारीफ की है। अफीमचीपन और काठ में पैर बाँधने तक की। पर हम भारतीय लोग अपवाद हैं। हम सदा कुछ ऐसे 'इन्फीरियारिटी' से ग्रस्त हैं, कि अपनी निन्दा और पर-प्रशंसा से नहीं अघाते। विलायती राज के वक्त प्रतापनारायण मिश्र थे सो ठीक था, 'तृप्यन्ताम' कविता में—

हिंगी और टिकिस के मारे, हमहिं छुदा पीड़ित तन छाय।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि लेवो वृथा दूध को नाम।
तुमहिं कहाँ प्यावै जब हमरो, कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमखि-अलक उपमालहिं, नाग देवता तृप्यंताम।

स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ और नागपंचमी का यह नैकट्य याद मिला देता है। पर यहीं कहीं आस-पास गणेश-चतुर्थी भी तो आती है। हाथी की सूँड वाले, चूहे को वाहन बनाने वाले देवता। यह लम्बोदर, मोदकप्रिय गणपति हमारे देश की विशेषता हैं। एलिस गेट्टी ने लिखा है, कि गणपति प्राग्-आर्य विभूति हैं, वह आर्येतर जाति के गण-प्रतीक थे, क्योंकि गणपति को एकदन्त भी कहते हैं। 'पल्लु' और 'पेल्ल' इन द्राविड़ शब्दों का अर्थ दन्त-शूल होता है। तमिल भाषा में 'पिल्लैयर' गणपति को कहते हैं। 'पिक्कै' यानी बालक–'पिल्लक' यानी अभिजात बालक। बाग्ची के अनुसार 'पिल्लै' का मूल अर्थ हाथी का बच्चा था; क्योंकि पालि 'पिल्लक' का अर्थ गजकुमार है। यह पिल्ले की चर्चा बीच में आ गई। पर मैं कह रहा था, कि यह दंत-शूल ही ले लो। डेंटिस्ट चीनी हो या देसी–दंतशूल सबको एक-सा होता है।

सो कुछ चीजें देसी-बिदेशी से परे भी हैं। जैसे कला, प्रेम, सौंदर्य, भूख, बीमारी और संस्कृति। परन्तु शिक्षा का रूप क्या हो, माध्यम क्या हो, इसमें देशकाल-परिस्थिति फिर आ जाती है। मैं शिक्षक ग्यारह

वर्षों तक रहा, पर अपने मुँह से क्यों कहूँ, गांधी जी ने १९०९ में 'हिन्द स्वराज्य' में कहा था—

"करोड़ों माणसो ने अंग्रेजी केलवणी देवी ते तेओने गुलामी मां नाखवा बराबर छे। मेकॉले ओ जे केलवणी नो पायो रच्यो ते खरुं जोता गुलामी नो पायो हतो। .'आपणे स्वराज्यनी वात परभाषायां करीओ छीओ ओ केवी कंगालियत ? जे केलवणी अंग्रेजों ने उतार छे ते आपणो शणगार बने छे ओ जानवा जोवुं छे आपण एक बीजा ओ कागल लखीओ ते भकभरेला अंग्रेजीमां। आवा खोडवाला अंग्रेजमांथी साधारण एम० ए० पण मुक्त न थी। आपणा सरममां सरस विचार वतावावानुं वाह ते अंग्रेजी, आपणी कांग्रेस ते अंग्रेजीमां चाले। आपणां सरस छापां ते अंग्रेजी मां। जे आव लांबी मदत सुधी चालश तो आपणी पछीणी प्रजा आपणो तिरस्कार करशे ने तेमनो शाप आपणा आत्मा ने लागशे ओम मासे मानव छे !"

अर्थात् "करोड़ों आदमियों को अंग्रेजी शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने के समान है। मेकॉले ने जिस शिक्षा की नीव रची वह सच पूछा जाए, तो गुलामी की ही नींव थी। हम लोग स्वराज्य की बात परभाषा में करते हैं, यह कैसी दरिद्रता है ? जो शिक्षा अंग्रेजी की उतरन है वह हमारा कैसे शृंगार बन रही है, यह एक जानने योग्य चीज़ है। हम एक-दूसरे को पत्र लिखते हैं तो भूलों से भरी अंग्रेजी में। ऐसी भूलों वाली अंग्रेजी से साधारण एम० ए० भी मुक्त नहीं हैं। हमारे अच्छे-से-अच्छे विचारों की वाहन अंग्रेजी है। हमारी कांग्रेस में भी अंग्रेजी चलती है। हमारे अच्छे अखबार अंग्रेजी में हैं। मैं तो समझता हूँ, कि यदि ऐसा बहुत समय तक चलता रहा, तो हमारे बाद की प्रजा हमारा तिरस्कार करेगी और उसका शाप हमें लगेगा।"

गांधी जी के शब्द स्पष्ट हैं। हमारी वृत्ति ही कुछ विलायती बन गई है। वह जितनी जल्दी देसी बनेगी, उस पर ही हमारी विकास

योजनाओं की सफलता निर्भर करती है। नीम-देसी और बाह्य-देसी बन जाने से कुछ नहीं होता। यों तो देसीपन भी एक व्यसन बन जाता हैं। यह कहानी कही जाती है, कि चुनावों में किसानों में लोकप्रिय होने के उद्देश्य से एक भद्र महिला ने जार्जेट की साड़ी पहनकर हाथ में मूसल लेकर धान कूटने की पोज में पति-सहित फोटो खिचवाया और छपवाया।

मादाम दस्ताहल ने एक बार एक पत्र में कहा था—'विदेशी लोग हमारे समकालीन भविष्यत्।' विदेशियों से हमारे जो सम्बन्ध हैं या विदेशियों की हमारे बारे में जो राय है और हमारे बारे में उन्हें कितनी दिलचस्पी है, यह इस बात का सबूत है, कि हम आगे क्या होने वाले हैं। देसी-विलायती का यह पहलू भी ख्याल में रखा जाना चाहिए।

अन्त में राष्ट्रीय कवि चकबस्त की कुछ पंक्तियाँ सुनिए—

कश्मीर से अयाँ है जन्नत का रंग अब तक।
शौक़त से बह रहा है दरियाए गङ्ग अब तक॥
अगली-सी ताजगी है फूलों में औ फलों में।
करते हैं खस अब तक ताइस जङ्गलों में॥
अब तक वह कड़क है बिजली की बादलों में।
पस्ती-सी आगई है पर दिल के वलवलों में॥
गुला शमाए अंजुमन है गो अंजुमन वही है।
हुब्बे-वतन नहीं है, खाके वतन वही है॥

तीन गज़ कपड़े ने कहा—

कपड़ा जीवन की जरूरत नम्बर दो है। खाना पहले, कपड़ा बाद में, मकान अन्त में। जब पैदा हुए, तब नंगे थे। यानी तुम, मैं, सब नंगे थे। दिगम्बर जैनियों के लिए यह दलील काफी जोरदार है। अमेरिका में, सुनते हैं, फैशन के लिए 'न्यूडिस्ट' (नंगों के) क्लब हैं। दुनिया से बिदा लेते समय हिन्दू-रिवाज आदमी को नंगा करके ले जाता है—यानी जैसे सब कुछ था, सो छोड़ दिया; निरा चोला बदलना बाकी है। गीता एक किताब है, जिसमें हमारी जिस्म को ऐसे बताया गया है, जैसे उतरन हो। परसों मैंने अखबार में जो पढ़ा, उसकी कटिंग यहाँ दे रहा हूँ—नीचे—यह एक राष्ट्रीय अखबार की खबर है। देखिये, और कपड़े से मुंह ढाँक लीजिये, शर्म से। कभी मैनचेस्टर को धोती का फन्दा हमारे गले लगता था, अब कोट का परकोटा बनाया जा रहा है—

पुराने कोट-पेन्ट

भारत में बिक्री के लिए पाँच लाख पुराने विलायती कोट और पेन्ट ४) प्रत्येक की दर से मिल सकते हैं। मध्यपूर्व के देशों को हजारों भेजे जा चुके हैं। जहाज की सुविधा हमें प्राप्त है। एक-एक हजार छँटे हुए कपड़ों की बंधी गाठें भी मिल सकती हैं। किसी भी विलायती बैंक की मार्फत भुगतान हो सकेगा और आर्डर स्वीकार किया जायेगा।

न्यूमेन (कण्ट्रेक्टर्स) लिमिटेड
सरकारी ठेकेदार
४, ए० पी० स्ट्रीट, मैनचेस्टर (इंगलैंड)

तार का पता—'हरिजिगर'
(दैनिक 'सैनिक', २३-२-४६)

अब इसी विज्ञापन के साथ गांधीजी का यह प्रसिद्ध वक्तव्य पढ़िये—

"कपड़े का अकाल यों टाला जा सकता है, कि करोड़ों लोगों को अपने-अपने देहात में कातने और बुनने के लिए कहा जाय; जहाँ कपास न होती हो, वहाँ कपास, और किराये पर अथवा लम्बी मियाद की खरीद-शर्तों पर उत्पादन के सीधे-सादे औजार अर्थात् चर्खे-करघे राज्य लोगों को मुहय्या करे। चरखा-संघ के सधे हुए कार्यकर्त्ताओं को मदद और राह दिखाने के लिए कहा जाना चाहिये। अगर काम लगन से शुरू किया जाय, तो इसमें कुछ महीने लग जायेंगे। जबतक यह बीच का समय गुजरता जाय, तबतक देशी मिलों को कहा जाय, कि वे शहरों और देहातों में अपने कपड़े को बुद्धिमानी के साथ वितरण करके वे इस राष्ट्रीय काम में मदद दें। देश में जो संकट मौजूद है और रोजमर्रा बढ़ता जा रहा है, उसको देखते हुए यह दलील बन्द हो जानी चाहिये, कि मिलें हमारी सारी जरूरतों को पूरी कर सकती हैं अथवा नहीं। मिलें देश के करोड़ों बेकार देहातियों के लिए काम नहीं जुटा सकतीं। चर्खे के शैक्षणिक मूल्य की जगह और कौन ले सकता है? हमारे दिमाग़ों पर जो जादू सवार हो चुका है, यदि वह उतर जाय, तो हम सब इस जाहिर सचाई को समझ लें, ठोस कार्य पर अमल करने लगें और इस तरह करोड़ों में और सम्भवतः सारी दुनिया में विश्वास पैदा कर सकें, क्योंकि आज दुनिया में किसी के पास न काफी अनाज है, और न कपड़ा?

—मोहनदास कर्मचन्द गांधी

यानी गांधीजी भी मिलों को मिलाकर चलना चाहते हैं; उन्हें बिलकुल बेकार नहीं समझते। खुदा का शुक्र है।

मगर मैं क्या करूँ, जिसने चर्खा-संघ के उत्पत्ति-केन्द्रों में कत्तिनों को जापानी छींट खरीदते हुए देखा है, क्योंकि वह सस्ती और अधिक

आकर्षक थी। और मैंने जहाँ कलकत्ते में २० हजार टन कपड़े की गाँठें 'चोर बाजार' में पकड़ी जाने की बात सुनी थी, उसी बंगाल में बेकफन लाशें दफनाने की दर्दनाक कहानियाँ भी सुनी थीं, और एक रंगीन सुन्दर साड़ी के लिए अच्छे घर की बहू-बेटियों को लाज की बिक्री करते सुना था। नजीर मियाँ का कूबड़नामा चाहे कहता रहे—

कुछ देर नहीं अब चलने में,
क्या आज चलो या कल निकलो।
कुछ कपड़ा-लत्ता लेना हो,
सो जल्दी बाँध संभल निकलो।
अब शाम नहीं, अब सुबह हुई,
जो मोम पिघल कर ढल निकलो।

निकलते वक्त कपड़ा-लत्ता संवारने का जमाना ही अब न रहा।

कपड़ा दुर्मिल वस्तु है। कन्ट्रोल के दाम वाले कपड़े उतने ही बिला-भरोसे के हैं, जितने के सिनेमा के किस्से या ज्योतिष के घिस्से! न जाने किस वक्त वे दगा दे जायें।

आज मैंने इसी वस्त्र-महोदय से मुलाकात की और निम्न उत्तर पाये।

"भारतीय वस्त्र का पूर्वकाल? क्या कहिये, भारतीय वस्त्र की आयात इंगलैंड में इतनी अधिक होती थी, कि सिर्फ कई सदियों पूर्वका वर्णन मिलता है, कि रोम की स्त्रियाँ मालाबार की छींट और ढाका की मलमल के लिए बराबर-वजन का सोना देने के लिए उद्यत रहती थीं। प्लिनी नामक इतिहास-लेखक का कहना है कि रोमन साम्राज्य के अस्तं-गत होने में पूरब को कपड़े के लिए दी जानेवाली रकम एक प्रमुख कारण है। प्रतिवर्ष भारतवर्ष में रोम से ४० लाख रुपये आते थे। इंगलैण्ड में भी सत्रहवीं सदी के करीब डैनियल डेफो नामक अंग्रेज लेखक का वर्णन मिलता है कि—"हिन्दुस्तान के बने 'कलिको' तुर्कि-स्तान जाते थे। स्थल मार्ग से और समुद्री-मार्ग से मास्कोबी और टार्टरी

होते हुए यूरोप-अमेरिका तक पहुँचते थे।" इंगलैण्ड के लोग ऐसे जंगली थे, कि ढ़ाई सौ बरस पहले उन्हें कपास का कपड़ा क्या चीज है, नही मालूम था। हिन्दुस्तानियों से सूती कपड़ा बुनने की कला की शिक्षा पोर्तगीजों ने, और उनसे फ्रान्सीसियों ने तथा उनसे अंग्रेजों ने ग्रहण की। आखिर १६६७ ईस्वी में इंगलैण्ड में कानून बना, कि फ्रेंच सूती कपड़ा इंगलैण्ड में न लाया जाये।

"परन्तु फ्रांस की जगह हिन्दुस्तान आया। १६६७ ईस्वी से १७२० तक इंगलैण्ड का राजपरिवार, विदुषियाँ, सभी स्त्रियाँ मच्छलीपट्टम की छीटों से आच्छादित थीं। '६६७ में केवल रसोई-घर की औरतों में १०-१२ लाख रुपयों का कपडा भारत से इंगलैंड जाता था। उस समय एक कपड़े की गाँठ के पीछे ६ से १० आने तक 'टैक्स' लगता था। दूसरे जेम्स राजा ने १६८५ में १० प्रतिशत कर बढ़ाया। फिर भी अंग्रेजी कपडा हिन्द के कपड़े के आगे टिक नहीं सकता था। १६६६ में इंगलैंड में भारतीय मलमल ३० शिलिंग (यानी २२-२३ रुपये) फी गज बेची जाती थी। उस समय के एक कवि प्रिन्स बटलर ने अपनी कविता में कहा है:—

"Our ladyes all were set a gadding
After these toyes they ran a madding
And Nothing then would Please their Fancies
Unles it, be of Indian making

आरम्भ के १० वर्षों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार १०-१२ लाख रुपये का ही था, १६२० ईस्वी में पचास हजार कलिको की गांठें बिकीं, तो १६३४ ई० में एक लाख। १६८० में सिर्फ सूरत और मद्रास से २८ लाख गांठें गयीं। १६७७ में इंगलैण्ड में कानून बना, कि कम से कम मरते समय—दफनाते समय तो हिन्दुस्तानी कपड़ा काम में न लाओ, बल्कि विलायती ऊनी कपड़ा काम में लाया करो। इंगलैण्ड के बुनकरों ने भारतीय कपड़े के खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया। बिल पर बिल

पार्लमेण्ट में आने लगे। स्पिट्सफील्ड के बुशकरों ने १० जून १७१६ को दंगा कर दिया। डेफो ने अपने पत्र 'शनीचर रिव्यू' में वर्णन किया है, कि कलिको-लेडीज के विरोध में कितने जोरों का आन्दोलन हुआ—

They assembled in several Companies and went about the streets tearing calicoes off the women's backs and throwing aquafortis on their clothes ..The Lord Mayor ordered the citygates to be closed. A troop of Horse Grenadier Guards were sent to spitalfields to scare ofl the weavers. Two of the latter, who resisted the Guards, had their heads cut off On the 12th they went about the city in small parties singing riotous ballads and ill-treated all the women, mho appeared in painted calico or linen. Some women "were frighted into fits and others to miscarriage".

"अब, कहानी का दूसरा हिस्सा जरा अपने ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में देखिये। कुछ आँकड़े आपकी आँखें खोल देंगे:—

"इंगलैण्ड से हिन्दुस्तान में आनेवाला कपड़ा कैसे-कैसे बढ़ता गया, जरा देखिये—

वर्ष	पाउण्ड	वर्ष	पाउण्ड
१७९४	१५६	१८०४	५,९३६
१७९५	७१७	१८०५	३१,९४३
१७९६	११२	१८०६	४८,५२५
१७९७	२,५०१	१८०७	४६,५४९
१७९८	४,४३६	१८०८	६९,८४१
१७९९	७,३१७	१८०९	१,१८,४०८
१८००	१९,५७५	१८१०	७४,६९५
१८०१	२१,२००	१८११	१,१४,६४९
१८०२	१६,१९१	१८१२	१,०७,३०६
१८०३	२७,८७६	१८१३	१,०८,८२४

और अधिक आप तुलना चाहते हों तो यह लीजिये:—

साल	यूरोप में हिन्दुस्तान से गया हुआ कपडा	यूरोप से हिन्दुस्तान में आया हुआ कपड़ा
१८१३-१४	५२,९१,४५८	९२,०७०
१८१४-१५	८४,९०,७६०	४५,०००
१८१५-१६	१,३१,५१,४२७	२,६३,८००
१८१६-१७	१ ६५,९४,३८०	३,१७,६०२
१८१७-१८	१,३२,७२,८५४	११,२२,३७२
१८१८-१९	१,१५,२७,३८५	२७,५८,९४०
१८१९-२०	९०,३०,७९६	१५,८२,३५३
१८२०-२१	८५,४०,७६३	२५,५९,६४२
१८२१-२२	७६,६४,८२०	४६,७६,६५०
१८२२-२३	८०,०९,४३२	६५,८२,३५१
१८२३-२४	५८,७०,५२३	३७,२०,५४०
१८२४-२५	६०,१७,५५९	५२,९६,८१६
१८२५-२६	५८,३४,६३८	४१,२४,१५९
१८२६-२७	३९,४८,४४२	४३,४६,०५४
१८२७-२८	२८,७६,३१३	५२,५२,७९३
१८२८-२९	२२,२३,१६३	७९,९६,३८३
१८२९-३०	१३,२६,४२३	५२,१६,२२६
१८३०-३१	८,५७,२८०	६०,१२,७२९
१८३१-३२	८,४९,८८७	४५,६४,०४७
१८३२-३३	८,२२,८९१	४२,६४,७०७

अब यह पुरान पचडे छोड़ो। इन आँकडों से जरा आजकल के आँकड़े आँखें फाड़ कर देख लो।—आजकल अमरीका के बाद हिन्दुस्तान की कपास की उपज है। आधे से अधिक कपास तो अभी-अभी

युद्धपूर्व तक जापान जाती थी। आज भारत में कुल ५५० सूती मिलें हैं, जिनमें ४० करोड रुपये की पूंजी लगी है। बहुत-सा हिस्सा उसमें (जूट में विशेष) विदेशी पूंजी का है। आज भारत में सूती मिलों के साढ़े-तीन लाख मजदूर हैं। १९३४ में जापान से भारत की व्यापारिक-संधि हुई थी, जो सन्,३७ में पुनः बढाई गई। ताता-बिड़ला-प्लैन के अनुसार जहाँ खेती पर १२४० करोड़ रुपये खर्च होगा, वहाँ उद्योगों में ४४८० करोड़ यानी चौगुना।

१९२२-२३ में भारत में १७२५० लाख गज़ कपड़ा होता था। और १९३९-४० में भारत में ४०३१० लाख गज कपडा होने लगा।

१९३९-४० में प्रति गज मिले और रुई की खपत यों मिलती है। सर्वाधिक बम्बई प्रान्त २०७ मिले; ६९८९४२३ हण्डर रुई की खपत—सबसे कम ट्रावणकोर १ मिल—६४७०। १९३९-४० में ४०१२५२९०२५ गज कपड़ा तैयार हुआ।

स्वदेशी कपड़ा विदेश गया—२२१४०४६११ गज।

स्वदेशी सूत विदेश गया—३६९४२७८३ गज।

"कपड़ा-चोर, अन्न-चोर, काम-चोर, जी-चोर—इस देश के भाग्य में चोर-बाज़ारी और चोर-देश भक्ति का भी जोर है। ऐसे वक्त में—यानी तीन गज कपड़ा—आपसे यही चाहता हूँ, कि चिंधी-चिंधी का उपयोग करना सीखो। जो लोग खद्दर पहनते हैं, (यानी जो कातते हैं) वे इस वक्त इस कपडे के अकाल से सुरक्षित र गे; क्योंकि 'जो कमायेगा, सो खायेगा' के अनुसार 'जो कातेगा, सो पहनेगा।' लाज उसी की बचेगी, जो अपने हाथों से उसे बचायेगा; वरना बहुत जल्द यह देश 'एक लाश कफन है हिन्दोस्तां हमारा' हो जायेगा।

अच्छा कनडा—शब्द की व्याख्या अभी तक मेरी समझ में नही आई है। जो जिसे बन जाये, फब जाये, सध जाये, खिल जाये, वही

अच्छा कपड़ा। वैसे ही हमारे इस अनुशासनहीन देश की कोई अपनी राष्ट्रीय पोशाक नहीं। मान लेता हूँ बकौल पं० सुन्दरलाल के जबलपुरी भाषण के कि 'धर्म न तो धोती में है, और न पाजामे में।' फिर भी कपड़ा तो दोनों को—धोती हो या पाजामा—लगता है ही। प्राचीन-काल में संस्कृत में जैसे 'रोटी' को शब्द नही मिलता, वैसे ही शायद शर्ट-कुर्ता-कमीज को; क्योंकि तब लोग शायद नंगे बदन ही ज्यादा रहते थे। हाल में युद्धकालीन एक खबर पढ़ी थी, कि एक कोई अफसर अपनी बीबी की ओढ़नी पहनकर दफ्तर गया और कही-कहीं तो इतनी अजहद गरीबी बिहार और सी० पी० के गाँवों में है, कि घर का घर, कुनबा का कुनबा एक ही कपडे पर नल-दमयन्ती की 'टर्न-बाई-टर्न' उसे काम में लाकर जीता है। अकबर इलाहाबादी भी क्या दृष्टा थे—

'तरसेगे कभी लंगोटी के वास्ते।'

इतना होने पर भी शादी-ब्याह वाले सूट और बनारसी साड़ियाँ चाहिये ही। कालेजियन का काम अनेकानेक सूटों के बिना नही चल सकता। बेचारा दर्जी-पूजक अंग्रेज (यह बर्नार्ड शा द्वारा दिया हुआ विशेषण है) रेगिस्तान में, अकेले में भी, दिन में डाइनिंग सूट, ईवनिंग सूट और स्लीपिंग सूट बदलते ही जाता है। जिस उष्म-शीत के आधि-क्य से बचने के लिए कपडे का जन्म हुआ, उसका तो ध्यान कहीं पहले छूट गया—बदले में पाया है निरा 'कपड़े के लिए कपड़ावाद।' बोला नंगों-भूखों की जय! कपडे की गाँठे अब कहाँ से आयेंगी? अब तो कपास के बदले भी 'अन्न बोओ, हो रहा है। गांधीजी फूलों के वृक्ष अनावश्यक बता रहे हैं। और अब कई मिल-मालिकों के युद्धोत्तर के सपने निरे 'सेमर के फूल' होने जा रहे हैं।

कपड़े और फूल से महाभारत की कहानी याद आ रही है कि कैसे दुर्योधन अन्धी गांधारी के पास विजय-कवच जैसी देह पाने नंगा जा रहा था (कि संती की आंखों की पट्टी खुले और एक दृक्षेप उसे अमर

बना दे) कि कृष्ण उसे रास्ते में मिले—हाथों में फूलों की चङ्डी लिये; और उल्टी पट्टी पढ़ा दी। सुना है अमरीकी वैज्ञानिक दूध से कपड़े बना रहे हैं और रूसी वैज्ञानिक लाल रंग की कपास बना चुके हैं। हम तो ये जानते हैं, कि 'तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर।' लेख भी शङ्कराचार्य की दुनिया की भाँति 'पटवच्च' हो जाये, तो क्या फायदा ?

१९४६ }

हड्डियाँ

आदमी क्या है—हड्डियों का ढांचा है ! संतकवियों ने 'हाड़ जले जैसे लकड़ी की मोली' कहा है। परन्तु हड्डियों का नृवंश शास्त्र में बड़ा उपयोग है। इन्हीं 'हड्डियों' जैसे मूलभूत विषय पर हम आज कुछ सोचेंगे, चाहे आप इस विषय को कितना ही असुन्दर और अछूत क्यों न समझें ?

किसी दुर्बल दैन्य-पीड़ित आदमी को देखकर हम कहते हैं 'इसकी हड्डी-हड्डी गिन लो'। 'हड' कंपी जाडा और अस्थि-प्रवाह-संस्कार से हड्डी शब्द हमारी बोल-चाल में आ गया है। दो कुत्तों की लड़ाई का कारण एक हड्डी का टुकड़ा होने से 'लडाई वाली हड्डी' एक मुहावरा ही बन गया। अभी कोई कहानी बतला रहा था, कि एक स्कूल मास्टर समय के पलटे के साथ जाकर बहुत बड़े सत्ताधिप बने। अब जब स्कूल के मास्टर वेतन बढ़ाने के लिए या अन्य कारणों से कोई बड़ा कदम उठाने की बात करने हैं, तो वही सत्ताधिप डांट-डपटकर बोले---यह मजदूरों वाले संगठन आप भी करते हैं ? आपको शर्म नही आती ! आपका अध्ययन कार्य क्या कोई पेशा है ? कितना आदर्श, उच्च, महान् कार्य है वह ? आपको तो त्याग और सेवा का जीवन बिताना चाहिए। और कोई गड़बड़ी की, हड़ताल वगैरह का नाम लिया तो याद रखना मैं हड्डी-हड्डी नरम कर दूंगा।

बर्नार्ड शा का शाकाहार के पक्ष में एक मनोरंजक तर्क था। एक बकरी की हड्डी और एक अनार का दाना (बीज) दिखाकर उन्होंने

कहा—इस बीज को आप जाकर बो दीजिए, देखिए कितने अनार मिलते हैं। उलटे यह हड्डी जाकर गाड़ दीजिए, आपको बकरी क्या उसकी पूंछ भी नहीं मिलेगी।

तिब्बत की यह प्रथा, कि मृतकों को जब कौए-चील खा जायें तब उसकी हड्डियों को जमाकर, पीसकर, चारों दिशाओं में उसका चूर्ण बिखराना, हमारी दृष्टि में अत्यन्त वीभत्स और मृतक के प्रति अनादर व्यक्त करने वाली प्रथा चाहे हो, परन्तु सचाई यह है, कि वे इसी का मृतक के प्रति आदर व्यक्त करने का सर्वोच्च मार्ग समझते हैं।

वैसे मांसाहारी हड्डी चूसकर आनन्द प्राप्त करते हों; परन्तु हड्डी खाकर भी कभी कोई रहता होगा, यह विचार कठिन है; परन्तु गांधीजी ने १९३१ जुलाई के 'यंग इंडिया' मे सिंध के थरपारकर जिले के भीलों की एक हृदयद्रावक कहानी छापी थी। श्री जयरामदास दौलतराम ने सिंध के भीलों की स्थिति के विषय में एक पत्र प्रकाशित किया था। 'देवराज और उसके भाई के तीन खेत थे। छोटा भाई युवक और सबल होने से वह जमींदार के पास काम के लिए गया। उसकी उम्र ५० से ऊपर थी। अकाल के बारे में उसने कहा—'भगवान् ने टिड्डियाँ भेजी और वे सब फसल खा गयी। गये दो महीने तक मैं कुभट पेड का गोंद बटोरने के लिए रेगिस्तान में जाता था। दिन भर मेहनत करके दो-तीन आने या अधिक कमाता। इस साल गोंद बहुत हुआ; परन्तु जाड़े के बाद यह भी नही मिलता। देहात में काम नहीं मिलता। कभी-कभी मुसलमान खातेदार के यहाँ चावड़ी बांधने का काम मिल जाता है। हमें अपनी मिट्टी, लकड़ी, डोरी वगैरह सामान लाना पड़ता है। दो आदमी २० दिन में यह काम पूरा करते हैं। उस पूरे काम के ४–५ रुपये मिलते हैं; परन्तु यह काम हर साल तो नहीं मिलता। मैं कभी-कभी जङ्गल से लकड़ी तोड़ लाता, जिसका आना मिलता था। परन्तु अब लोग वे भी नहीं खरीदते। खुद तोड़ लाते हैं।

जयरामदास ने देवराज से पूछा—"पिछले कुछ दिनों में तुमने कौनसा काम किया और क्या खाया ?"

'मैं लकड़ी का गट्ठर लाया और उसके ३ पैसे मिले। मैंने उसकी बाजरी खरीदी और पतला दलिया बनाया; क्योंकि उस बाजरी से रोटी नहीं बन सकती थी।'

'और कल क्या किया ?'

'कल काम ही नहीं मिला। इसलिए एक सेर छाछ का पानी लाया और दिन बिताया।'

"और परसों ?"

'परसों भी काम नहीं था। मुझे एक मुसलमान के पास रोटी का टुकड़ा और छाछ का पानी मिला।'

"और नरसों ?"

"मुझे पानी लाना था। कब मेरी बारी आती है, इसलिए मैं राह देखता बैठ रहा। लौटने में देर हो गई और सब खा चुके थे। इसलिए मैं भूखा ही रहा।"

'और उससे पहले ?'

'पटेल के घर शादी थी। उन्होंने बहुत सा चावल साफ किया था। उसमें का चावल का छिलका और बचाखुचा कचरा मिला। मैं उसे उबालकर पी गया।'

'नमक मिल जाता था ?'

'कहाँ का नमक ? मैं बिना नमक के दलिया पी गया। देहात में काम नहीं था और मुझे दो-तीन प्राणियों को जीवित रखना है : मैं, मेरी स्त्री और बच्चा। मेरा भगवान पर विश्वास है और इसी तरह हम दिन बिताते हैं। इससे भी बुरे दिन मैंने देखे हैं। छप्पन (१९०० ईस्वी) का अकाल मैंने देखा है। उन दिनों मरे हुए जानवरों की हड्डियाँ पीस कर हम उसका आटा बनाते थे और खाते थे।

गाँधीजी ने यह कहानी देकर लिखा था—'इन्हीं लोगों को चरखा आशा और सुख प्राप्त करा देता है। इन्ही लोगों के कारण नमक-कानून नहीं चाहिए।'

सो तिब्बत में हड्डियों का आटा दिशाओं के देवताओं को अर्पित करते हों और अकाल के समय भारत में हड्डी का आटा पीसकर भी फांकते रहे हों। फिर भी हड्डी के उपयोग के विषय में वैज्ञानिकों से पूछने पर यह पता लगा, कि हड्डी न केवल खाद; परन्तु अन्य कई प्रकार से उपयोगी वस्तु है। इनके बटन, खिलौने, चाकू के हैंडल आदि बनने के अलावा और भी उपयोग हैं।

हड्डी का चूर्ण खाद के नाते काम में लाते है। खाद मे फास्फोरस, नाइट्रोजन और पोटैशियम में से एक मूल-तत्त्व आवश्यक होता है। उनमें से नैट्रोजन गोबर, खली, अमोनियम सल्फेट, सोरा के रूप में दिया जाता है। पोटैशियम राख या पोटैशियम सल्फेट के रूप में दिया जाता है। और फास्फोरस हड्डी या हड्डीयुक्त पत्थर अथवा दोनों से मिले हुए कृत्रिम 'सुपर फास्फेट' नामक खाद मे दिया जाता है। हड्डी पीसकर इसलिए खेती में काम में लाते हैं, कि कई बार हड्डियों के पानी में बह जाने का डर रहता है और वैसे हड्डियाँ जल्दी से पानी में घुलती भी नहीं। गंधिकाम्ल में मिलाने पर हड्डियाँ घुल जाती हैं।

हड्डियों में की उपयोगी चर्बी प्राप्त करने के लिए 'बेंजीन' नामक ज्वालाग्राही प्रवाही द्रव्य का उपयोग करते हैं, जिसमें यह चरबी जल्दी घुल जाती है। चरबी के कई उपयोग हैं, जिनमें एक मुख्य है—पहिये, मशीन आदि में स्निग्धता के लिए रौगन की भांति उपयोग। साबुन में भी यह काम में लायी जाती है। कवि लोगों को रूपक में वह अपने वक्ष की अस्थि जलाकर उसका चूड़ बनाकर 'तू अकेला अंधेरे में निडर होकर जा' कहने की आवश्यकता नहीं। सचमुच हड्डियों से बनी चर्बी की मोमबत्तियाँ भी बनती हैं।

हड्डियों को पानी में बाष्पभार में उबालने से सरस पानी में उतर आता है। अथवा नमक के तेजाब में उबालने से नाइट्रोजन-रहित सब भाग तेजाब में उतरता है। सिर्फ अस्थिकूर्चा (कुटिलेज) पीछे रह जाती है। अस्थिकूर्चा को उबालने से सरस का द्रव तैयार होता है। यह सरस तार की जालियों पर सुखाते हैं इसलिए उस पर लकीरें पड़ जाती हैं। यह सरस दूसरा, संस्कृत कवियों का इधर से पढ़ो तो भी सरस और उधर से पढ़ो तो भी सरस वाला उल्टा-सीधा एक ही सरस नहीं।

हड्डियों का कोयला हवा से संसर्ग न रख कर तपाने से उसका विश्लेषण होकर कोक, कोलतार, अमोनिया, कोलगैस आदि बनते हैं। हड्डी के कोयले में मैलापन सोख लेने की अजीब शक्ति है। इसी से शक्कर के कारखानों में शोधक के रूप में उसका प्रयोग होता है।

हड्डी का कोयला कई बार काम में लाने पर जब बेकार हो जाता है तब जलाकर उसकी राख बनाते हैं। इस राख से गंधिकाम्ल की सहायता से हड्डी का तेजाब बनाते हैं। हड्डी के तेजाब का उपयोग दियासलाइयाँ बनाने में होता है।

बिजली की भट्टियों में हड्डियों की राख से ही चमकीला पत्थर और कोक की सहायता से फास्फोरस बन सकता है। फास्फोरस ज्वालाग्राही पदार्थ है और अँधेरे में भी चमकता है। यह पीला फास्फोरस ही कभी किसी अँधविश्वासी ने देखा था, जिससे कि 'भगिया बैताल' भूत का आभास हुआ। लाल फास्फोरस इतना ज्वालाग्राही नहीं होता। अतः उसी का उपयोग माचिसों में किया जाता है। माचिस के कारखानों में पहले पीला फास्फोरस काम में लाते थे; परन्तु उसके कारण मजदूरों के जबड़ों में दुर्निवार रोग होने लगा। तब इसका प्रयोग बन्द किया गया।

कोलतार से गाढ डम्मर, फिनॉल, पिरिडिन, क्विनोलिन आदि कई पदार्थ बनते हैं। अमोनिया से अमोनियम सल्फेट नामक खाद बनता है। कोलगस का तो जलाने में उपयोग करते ही हैं। ये सब हड्डियों से हमें मिलती हैं। इसलिए हड्डियों के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

किसी दधीचि ऋषि की हड्डियों से ही तो वज्र भी बना था।

कान

"भद्रं कर्णेभि शृणुयाम सर्वं"...सब सुने, पवित्र कानों से सुनें ? ऋषियों में यह बात चली आ रही है ? मगर हम क्यों सुनें साहब, सुनने लायक भी कुछ हो। अक्सर बातें तो ऐसी ही होती हैं, कि इस कान से सुनो, उस कान से निकाल दो। कहा जाता है, कि आँख और कान में सिर्फ चार अँगुल का ही फर्क है और फिर भी 'बड़री अँखियों की तारीफ 'आकर्ण भौंहों वाली' कह कर ही की जाती है। न आँखें सुन सकती हैं और न कान देख सकते हैं फिर भी कान से सुनी बातों (हियरस एवीडेंस) की अपेक्षा आँखों देखी ज्यादा सच मानी जाती हैं। न्यायदाता भी कुछ आँखों के लिहाज में ज्यादा आ जाते दीखते हैं, बेचारे कान को कौन पूछता है। वैसे 'कर्ण वर्जित' संस्कृत में साँप को कहते हैं; फिर भी उसकी सर-सर सुनाई देते ही सबको सुननी पड़ती ही है। आजकल जब से देश में बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही हैं तब से अफवाहें उड़ाने का रोग चल पड़ा है और ऐसे ही लोग काना-कानी करते हैं। कुछ पक्के दिल वाले होते हैं, उनके कान पर जूँ भी नहीं रेंगती, कुछ लोग आधे कान सुनते हैं और कुछ कान में तेल डालकर बैठे रहते हैं, कि कब बे राई सुने तो तो उसका पर्वत बना डालें।

आप पढ़नेवाले या सुननेवाले समझते होंगे, कि कान पर लेख लिख रहे हो, तो कुछ कान में रस डालोगे मगर देखा तो वही भिन्नाहट। आयुर्वेद में एक रोग का नाम है 'कर्णक्ष्वेड़' (कान में बराबर भिन-भिन आवाज होते रहना)। आजकल जहाँ देखो वहाँ यही रोग है, सिनेमा-घर में, रेडियो पर, सड़क पर, बाहर-घर में। यह बढ़ती हुई आवाज

की समस्या ऐसी भयानक है, कि अच्छे वैज्ञानिकों को कान पर हाथ नहीं धरने देती। एक आवाज सब ओर से उठ रही है, कि यह आवाज-बाजी कम हो ? मगर इन सिनेमा और रेडियो, लाउडस्पीकर और इन भोंपुओं के कान कौन उमेठे ? जब सुनना चाहते हैं, तो हम यह, कि बुन्दू खाँ अपनी सारंगी के या बाबूखाँ अपनी बीन के कान उमेठ रहे हों, वहाँ सुनो तो ऐसा कर्कश और ताल स्वर शून्य रेंकना कान पर पड़ता है, कि गाने वाले (मा'सी') के कान उमेठने की इच्छा होती है।

यह बात आप अपने कान तक रक्खें, कि ऐसी कान-जैसे रचना लेकर मैं जब हिन्दी के परिहास भावना (सेन्स आफ ह्यूमर) शून्य सम्पादकों के पास जाता हूँ तो वे कान मलने लगते हैं या फिर फरमाते हैं—कान पूँछ दबाकर चले जाइये ? गोया मैं लेखक न हुआ कोई लम्बे कान वाला जानवर हुआ। अगर आप गधा शब्द पसन्द न करते हों, तो सुसंस्कृत शब्द 'कार्णिन' है या (लम्बकर्ण')।

लम्बे कान पर एक बात याद आ गई, कि एक मामले में जानवर आदमी के कान कतरते हैं। हाथी या गौयें अपने कानों का कर्ण 'कर्णस्फाल' या 'कर्णताल' कर सकते हैं। यानी कान फड़फड़ा सकते हैं। आदमियों में भी कुछ जो 'मसल्स कंट्रोल' जानते हैं शायद कान यों हिला सकें, नहीं तो आदमी को जबान हिलाना ही आता है।

कर्ण-जप्' उस आदमी को कहते हैं जो एक कान से दूसरे कान में यों चुगली करता हुआ चले। अक्सर लोगों को आदत होती है, कि आप उन्हें कहिये, यह बात अपने ही तक रखना, कि जरूर कानाफूसी कर उसे फैला देंगे। अंग्रेजी में कहावत है—अपने दोस्त पर भी एतबार न कर उसका भी कोई दोस्त जरूर होगा (नेवर ट्रस्टदाई फ्रेंड, ही इज आल्सो ए फ्रेंड)।

× × ×

बेचारे सौन्दर्य की जब तालिका होने लगती है तब इस कान को

कोई नहीं पूछता—केश, भौंहें, आँ, नखासा, अधर, सर पर संस्कृत कवियों ने उपमाओं का खजाना लुटा दिया, पर बेचारा कान ! उपेक्षित ही रहा। कान का उपयोग सिर्फ इतना ही जान पड़ता है, कि वह आभूषणों का अधिष्ठान हो—हेयरलिंग, झूमर, कर्णफूल, टोप्स, बालियाँ वगैरह-वगैहह का वासस्थान सो कान ! सो हमने कवियों से पूछना छोड़कर (मुआफ करें संस्कृत कोष में कविके अनेक अर्थों में उल्लू भी है) वैज्ञानिकों से कान के बारे में बात शुरू की तो बोले उसकी रचना बहुत उलझी हुई है। उसमें एक 'टाइम्पैनम्, फिर यूस्टैच्चियन् ट्यूब' फिर कैनस आफ कॉच्लिया...राम राम ! कान न हुआ एक चक्रव्यूह हो गया। उनसे जो खास बात का पता चला वह यह, कि कान बहुत कुछ चूड़ी के तर्ज पर जो 'साउंड' बक्स होता है न, उस जैसी चीज है। हमारी समतोलना (सेन्स आफ बैलन्स) कान पर अवलम्बित है। आँख मूंदकर चलती गाड़ी में बैठिये, जान पड़ेगा आप पीछे उल्टे जा रहे हैं।

अब श्रुतियों का (यानी वेदों का) यह हिसाब है, कि प्रति सेकिंड १५–२० से लगाकर ३०००० स्वर कंप (वाहूब्रेशन्स) हो सकते हैं, जिसमें साधारण कानों को ८ से १० तक का फर्क का पता चलता है। जिनके कान सधे हुए हैं वे प्रति सेकिंड में १।४ से १।८ फर्क को भी पहिचान सकते हैं। पियानो पर से साधारणतः प्रति सेकिंड २८ से ४२२४ स्वर-कंप होते हैं तो पाइप अग्निपर १६ से ८४४८... पर। आप कहेंगे देखो कान की बात करते-करते ये काम की बात करने लगे। कभी-कभी छपाई की भूल में काम के बजाय कान छप जाता है और तब इस वाक्य का क्या होगा—(असेम्बली में श्री... का काम रोको प्रस्ताव' 'कान रोको प्रस्ताव' हो जायेगा।)

अन्त में एक चुटकुला ब्रह्माजी का याद आ रहा है, सो देता हूँ। बंगाली कहानी लेखक 'बनफूल' ने लिखा है। ब्रह्माजी के चार सिर

यानी आठ कान होते हैं। एक दिन शिकायतें सुनते-सुनते उनके कान पक गये। रूस ने आकर शिकायत की—

अमरीका बदमाश है—उसे ठीक करो।

विधाता बोले—अच्छा।

अमरीका ने आकर कहा—रूस शैतान है, उसका इन्तजाम करो।

विधाता बोले—अच्छा ?

सास ने कहा—बहू बहुत लड़ती है।

ब्रह्मा बोले—अच्छा।

बहू ने आकर कहा—सास खराब है।

ब्रह्मा बोले—अच्छा ?

यों सुनते-सुनते जब वे थक गये तब अपने सेक्रेट्री को बुलाकर उन्होंने पूछा, अपने घर में सरसों का तेल है? वह बोला–हाँ !

तब उसे मँगाकर अपने कानों में तेल डालकर ब्रह्माजी तब से जो सोये—सो अभी तक सो रहे हैं—गाढ़ी नींद में।'

ध्रुव

"जातस्य हि ध्रुवोमृत्युध्रुंवं जन्म मृतस्य च"

(गीता २; २७)

मनु का पौत्र, उत्तानपाद का लडका, पिता की प्रताड़ना से, माता के उपदेश और नारद की प्रेरणा से वन में तपस्या करने गया। ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ था वह, कि अपनी तपस्या में वह अडिग, अविचल, निश्चयी बना तपानुतप बैठा रहा। विष्णु उस पर प्रसन्न हुए और उसे तारक मंडल में एक ध्रुवस्थान दिया। यह है कथा का नायक-ध्रुव! डिकेंस ने एक छोटी सी सुन्दर कहानी इसी अंग्रेज़ी लोक-विश्वास को लेकर लिखी है, कि बच्चा जब मर जाता है, तब आकाश में वह तारा रूप हो जाता है। पंत ने 'पल्लव' में 'नक्षत्र के प्रति' में 'नभवावक' 'व्योम* के शिशु' आदि शब्दों से इन्हीं न खिरने वाले प्रकाश के नन्हे पुंजों को सम्बोधित किया है। तारे और बच्चे—बहुत समता है दोनों में; दोनों खिलखिलाते हैं, टिमटिमाते हैं; दोनों आज की कृत्रिम सभ्यता से बहुत दूर के आदर्श हैं; दोनों हमारे दिशादर्शक हैं।

कथा के ध्रुव से भिन्न रूप ज्योतिष-शास्त्र के ध्रुवतारक का है। वह नक्षत्र-लोक और तारा-मंडल का मध्य-बिंदु है। वह हमारी पृथ्वी से ४६·५ प्रकाश वर्ष दूरी पर है। एक प्रकाश वर्ष का अर्थ है

* तिब्बती यह मानते हैं कि जब एक तारा आकाश से स्खलित होता है, पृथ्वी पर एक नये पुत्र का जन्म होता है। निकोलस रोरिक ने इस पर एक बहुत सुन्दर चित्र बनाया है—भाग्य-तारा।

१४६६४२४०००००० मील। इतने दूर का एक छोटा सा प्रकाश-बिंदु और इसने सदियों से हमारे नाविकों को, नौका नयन विशारदों, को प्रवासियों को और ग्रामीणों को दिशा का ज्ञान देता रहा। 'का दिशा ?' के युगों-युगों के मौन प्रश्न का अक्षरशः 'उत्तर' दिया। हम जो पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध में रहते हैं, उन्हे तो उत्तर दिशा का ज्ञान इसी तारे से मिलता है। भूमध्य रेखा से यह ध्रुव क्षितिज से मिला हुआ जान पडता है, जितना ही उत्तर की ओर चले उतना ही वह क्षितिज से ऊपर उठता जायेगा। यदि हम उत्तरी ध्रुव एस्किमो के देश पहुँच जायें तो ध्रुव सीधा हमारे सिर पर दिखाई; देगा जैसे मध्याह्न में सूर्य। प्रकाशमान वह इतना है, कि आभा की दृष्टि से ताराओं का जो वर्गीकरण किया है, उनमें ध्रुव का नम्बर दूसरे वर्ग में है, जिसमें ६४ उसके और मित्र हैं। महासप्तर्षि के नीचे के दोनों तारो को मिलाकर यदि उस रेखा को बढ़ा दिया जाये तो वह सीधे ध्रुवच्छेदन करेगी।

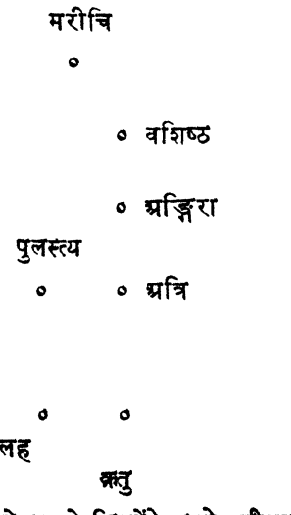

शायद ऐसी ही रेखा को जिन्होंने अपने जीवन में सार्थक किया,

उन मनीषियों को कबीर ने 'धुर का भेदी' कहा है। साहित्यिकों ने भी ध्रुव को बहुत प्रकार से सराहा है। गीता के आदि दार्शनिक का अस्त की भाँति 'जन्म-मरण' के ध्रुव 'चक्रनेमिक्रम' का उल्लेख लेखारम्भ किया ही है। याज्ञवल्क्य ने अपनी संहिता में विवाहोपरान्त सप्तर्षि और ध्रुवदर्शन के बहुत ही भव्य मंत्र लिखे हैं। वधू वर को ध्रुवदर्शन कराती है और "अपना, हम दोनों का प्रेम वैसा ही ध्रुव, अटल रहे," ऐसी माँग करती है। इसी प्रसंग का उल्लेख आगे चलकर आधुनिक कवियों में 'अज्ञेय' ने अपनी 'चिन्ता' में किया है। वैसे 'कामिनी' में भी नरेन्द्र शर्मा ने कुछ तारक-गीत लिखे हैं, जिनमें ध्रुव पर भी एक है। 'प्रसाद' के एक नाटक का नाम है 'ध्रुवस्वामिनी' और जैनेन्द्रकुमार के कहानी-संग्रह का 'ध्रुवयात्रा'।

कथा और ज्योतिष के ध्रुव से भिन्न ध्रुव का एक तीसरा रूप है, जो वायवी की अथवा काल्पनिक नहीं, सर्वथा मानवीय, ठोस और स्थूल है। वह है भूगोल का उत्तरी ध्रुवप्रदेश। हिमावृत, बारह मास बर्फ़ से जकड़ा, वालरस और सी-हार्स, एस्किमो और 'नोवाया ज़ैल्लिया' (रूसी शब्द अर्थ नई ज़मीन) का देश; जहाँ पर अनेकानेक स्वीडिश, जर्मन नार्वेजियन, इंग्लिश, फ्रेंच और रूसी साहसिक वैज्ञानिकों ने अपनी बलि चढ़ाई। मानव की प्रकृति पर विजय (जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं) उसकी महायात्रा में इन निष्काम ज्ञान-विज्ञान सेवियों ने अपने प्राण होम दिये, अपना सर्वस्व हँसते-हँसते चढ़ा दिया। आज तो नौवें दर्जे का विद्यार्थी भी जानता है कि 'सूरेबस' और 'टेरर' जहाज़ों में प्रवास करने वाले अपार साहसी फ्रैंकलिन और उसके दल का बर्फ़ानी दरिया में क्या हश्र हुआ ? कैसे एक सदी तक उनकी खोज चलती रही और फिर भी मानव ने प्रकृति से कभी हार नहीं मानी। नर्देन्स्कजोल्द द्वारा शुरू किया हुआ उत्तरी ध्रुव का संशोधन आज हमारे इतने लम्बे-चौड़े शस्य-श्यामल देश में रेडियो-स्टेशन बमुश्किल एक दर्जन मिलेंगे;

वहाँ सिर्फ उत्तरी साइबेरिया के हिम-जडित, निर्जन प्रदेशों में सोवियत् ने पचासों रेडियो-स्टेशन बनाये हैं—उनके सहारे उनकी वातावरण-विज्ञान-शाखा के संशोधक (मीटिआरालाजिस्ट) निरन्तर मानव के संचित ज्ञान-कोष और भविष्य की सुख सुविधाओं में वृद्धि करने के हेतु अथक परिश्रम कर रहे हैं। हम उनकी ध्रुव वृत्ति से कुछ सीखें।

आज आदर्श बन रहे हैं। सभ्यता संक्रमणकाल में से गुज़र रही है। लेनिन का एक वाक्य यहाँ मुझे याद आ रहा है—Nothing is final। वैसे ध्रुव कुछ नहीं है, अन्तिम कुछ नहीं है। यदि कुछ ध्रौव्य है तो वह हमारे मन के कृतनिश्चय में है। मन की जब दोलायमान स्थिति होती है तब यही ध्रुव तारे से हमारे कुछ आदर्श हमारे काम आवेंगे। अन्यथा सब कुछ निरर्थक है—'सर्वं क्षणिकम् क्षणिकम् क्षणिकम्' है।

'ध्रुव' शब्द से मेरे मन में जितने विचार उठे, मैंने बेतरतीब ऊपर लिख दिये हैं। शायद उनसे आप कुछ लाभ ग्रहण करें।

———

मध्यन्तर

हम तीनों चित्रपट देखने गये थे; मैं—एक अदना ग्रैजुएट मास्टर और लेखक; श्री—नामीगिरामी चित्रकार-कलाकार इत्यादि-इत्यादि; प्रेम-जीवन की रङ्गीनियों का शौकीन, किस्मत का मारा, आजकल रायल इण्डियन नेवी (यानी शाही भारतीय नौ सेना) का एक मल्लाह—एक महीने की छुट्टी पर स्वदेश और स्व-ग्राम लौटा हुआ। घाट-घाट का पानी पिये हुए थे हम तीन। मैंने तीर्थों के दर्शन किये थे और अयोध्या में सरयू, मथुरा में यमुना, पण्ढरपुर में चन्द्रभागा नदी का पानी देखा था; श्री तो चित्रकार ही था, उसे जलरङ्गों से और प्रकृति-चित्रण में यथार्थ और काल्पनिक पानी से रोज काम पड़ता था; और वसन्त ने बड़े-बड़े जहाजों में हिन्द महासागर और बङ्गाल की खाडी में प्रवास किया था; उसने समुद्र के चहरे पर व्यक्त होने वाली विविध रागात्मक प्रतिक्रियाओं को निहारा था और हम तीन वहाँ ऊँची सीटों में अटके बैठे थे एक तीसरे दर्जे का, रद्दी, रोमान्स के नाम पर नौटङ्की दिखाने वाला भारतीय चित्रपट देखते हुए, जिसे उस थियेटर मे चलते-चलते कोई पाँच हफ्ते हो चुके थे, फिर भी भीड़ ठसाठस थी।

मध्यान्तर (इन्टर्वल) हुआ और हम तीनों खुश हुए, कि चलो कुछ सुस्ताने का वक्त तो मिला। विद्युद्दीपों के आँख खोलते ही जन-समुदाय जगमगा उठा, और मैंने दूर-दूर तक देखा—स्कूल-कालिज के विद्यार्थी, मजदूर मेले-ठेले के लिए आये हुए देहाती, फिर शहराती

मध्य-वर्ग, मुंशी, क्लर्क-मुहर्रिर, फिर कुछ व्यापारी, चलते-फिरते गुण्डे, कुछ पत्रकार-साहित्यिक—बेकार, और सब से आखिर में हम लोग। सामने की कुर्सी पर त्याग और अपरिग्रह पर लम्बा लेक्चर देने वाले और मकानों की ठेकेदारी करने वाले एक नेता बैठे थे। पास की कुर्सियों पर एक अफसर-परिवार मैं-कुनबा आ धमका था। उधर एक ऐसे व्यक्ति थे जिनके पेशे का वर्णन नहीं किया जा सकता था—कभी पण्डागिरी, कभी वैद्यक, कभी ज्योतिष, कभी राजनीति। ऐसे मानव-समुदाय में फिल्म पर भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिमत व्यक्त हो रहे थे। कुछ लोग, जिनकी जबान कतरनी-सी चलती रहती है, जिन्हें परमात्मा ने मुँह इसीलिए दिया है, कि वे सदा बोलते रहें। डेढ़ घण्टे चुपचाप बैठने की इस स्वेच्छा-नियन्त्रित सज़ा के बाद, जैसे एक दम दबा हुआ स्प्रिङ्ग खुल पड़ा हो, बोलने लगे—उस फिल्म पर, अब तक देखी हुई फिल्मों पर, अभिनेताओं पर, गाने पर, कला पर, पाप-पुण्य पर, आधुनिक समाज पर और अन्ततः सब कुछ पर और खुद पर। इस विशाल परिमाण पर, बात-चीत के सम्मिश्र स्वरों में कुछ यों सुनाई पड़ रहे थे—

'फिल्म के गाने ऽऽ आठ आना।'

'वाहवा! क्या मज़ाक का काम किया है, क्या कहने!'

'कहीं ऐसा भी होता है जीवन में—कहानी एकदम अस्वाभाविक है!'

'और यह भी कोई अभिनय है, खड़े हैं—बुद्धू की तरह गा रहे हैं, हीरो हीरोइन के पीछे भाग रहा है।'

'हाँ, हाँ, पनघट वाला सीन उम्दा रहा।'

'चार आने वालों को खुश करना होता है उन्हें। आखिर फिल्म बनाने वाला हजारों रुपये पानी में तो नहीं न डालना चाहता।'

'पर उनकी अभिरुचि को सुधारना, बढ़ाना भी तो उसी का काम है।'

'उसे क्या पड़ी है उससे ?'

'आपने अंग्रेजी फिल्में देखी हैं, वही सब से अच्छी होती हैं।'

'नहीं साहब, उनकी सपाटे से बोली हुई अंग्रेज़ी हमारे पल्ले तो नहीं पडती। मगर आप तो यों बोल रहे हैं जैसे हालीवुड, होनोलुलू से आज ही लौटकर आये हैं।'

'मगर कुछ भी कहो, पङ्कज मल्लिक का गाना बहुत अच्छा था। उसकी तुलना में यह तो बिल्कुल ही घटिया मामला है।'

'मगर मैं कहता हूँ राष्ट्रीयता प्रथम चीज़ है। फिल्म में भी वह होनी चाहिये।'

'क्यों जी, तुम यहाँ भी व्याख्यान देने के लिए आते हो या तमाशा देखने ?'

भिन्न-प्रकृति और स्वभाव के लोग अजीब-अजीब तरह के फ़िकरे—जुमले-वाक्य, वाक्य-खण्ड हवा में बे-सलीके फेंक रहे थे। नाद-ध्वनियाँ अपनी वैज्ञानिक गति से उन्हें मेरे श्रवण-पथ पर ला रही थीं। कुछ थे जो चुपचाप बैठे थे, वातावरण को धूमायित कर रहे थे; कुछ सिर्फ खा रहे थे, या गुनगुना रहे थे, या गानों की पुनरावृत्ति कर रहे थे; कुछ निरे स्वभावोक्ति अलङ्कार बने बैठे थे।...

हम तीन दूसरी ही चर्चा कर रहे थे। हम देखने वालों को देख रहे थे। फिल्म अपेक्षा से अधिक रूखी और नीरस थी—उस पर चर्चा एक दम असम्भव थी। चित्रकार मित्र रोरिक की प्रदर्शनी देख आये थे और वे रङ्गों के बारे में टेकनीकल चर्चा कर रहे थे—'बाडी-कलर और साधारण जल-रङ्गों के भिन्न प्रकार के स्वभावों में यह अन्तर है कि ..'। नेवी वाले दोस्त त्रिङ्कोमाली, कोलम्बो और बम्बई और कहाँ-कहाँ की मज़ेदार बातें बतला रहे थे और समुद्र पर की उस छोटी-सी तैरती हुई दुनिया में और अपने गाँव की स्थाणु दुनिया में विरोधाभास की सख्त अनुभूति व्यक्त कर रहे थे। मैं चुप था—मैं सुन

रहा था, देख रहा था और आँख और कान के तारतम्य में, दोनों के बीच जो चार अंगुल का अन्तर है, उसे विज्ञान ने किस खूबी से टाकी में मिटाया गया है, इसका विचार कर रहा था।

इतने में इण्टर्वल का अवकाश पूरा हुआ। बत्तियाँ फिर से गुल हुईं। लोग धीमे-धीमे आकर उस स्वेच्छा-प्रेरित 'ब्लैक-आउट' मे अपनी-अपनी सीट खोजने लगे। युद्ध-चित्रावली पर्दे पर दिखाई जा रही थी। जिब्राल्टर, स्तालिनग्राड की वीरता और साहसपूर्ण मोर्चा, अमेरिका में बनने वाले नये जहाज, दोस्तों का जर्मन व्याप्त यूरोप पर हवाई हमला इत्यादि, आग, धुआँ, समुद्र, आसमान, काले धब्बे, विमान मे लिये हुए चित्र, नक्शे कुछ फौजी वर्दी में बडे-छोटे लोगों से भरा एक त्वरित चित्र—जिसका मुख्य लक्षण था गति, केवल गति, गति। बीच मे ही हिटलर अपनी डरावनी मुद्रा में चीखता हुआ दिखलाया गया था और उसके यन्त्र के बे-जान पुर्जो मे चलने वाले 'स्टार्म ट्रूपर्स' और 'वोल्कस्ट्राउम'। क्षण-भर ये दिखाये गये, फिर अत्याचार, फिर बमबाजियाँ, फिर चीटियों-सी निरीह जनता चट्टान के नीचे से दबा हुआ सिर ऊपर उठाने की कोशिश कर रही है। फिर दूसरा दृश्य, फिर दूसरा .....।

दुनिया के गोले के आस-पास कैमरामैन चक्कर काट आया। पता नही, वह समाचार की चित्रावली सहसा क्यों बन्द हो गई और वही पत्थर की पुतली-सी नायिका मध्य-युग के गहने पहने झूले पर झूल रही है; चाँदनी से धुँधला सारा आकाश, वायु है, बाग है, बहार है, प्रेम के गीत है, रोना है, एक घुग्घू की शक्ल का नायक है, प्रेम करता है—हैट फेंलाकर या टाई के साथ उँगलियों से खिलवाड़ कर या अपनी बार-बार गिरती हुई पैण्ट को सँभालते और बटन लगाते हुए। वही पनघट, वही कन्हैया-रा, वही पुराने पैंतरे, पुरानी बोतलों में नई शराब। वही गाने, वही उनकी रोती-सी विरह की मारी रातें, वही

साध, वही लगन, वही लम्बे-लम्बे अरमाँ, वही आहें, वही आँसू। फिल्म क्या थी, हिन्दी की छायावादी कविता हो रही थी—वही रिरियाहट, वही अस्वस्थ क्षयी रोमान्स, वही—'वहीपन'।

देखने वालो को ऊब आ जाती है, पर इन कम्बख्त फिल्म-दिग्दर्शकों को वही-वही चित्र बनाते हुए कैसे ऊब नही आती ? या वे किसी मद के भरोसे, नशे में एक-सी क्रिया, अनजाने, करते चले जाते है ? पता नहीं क्या बात है ?

मुझे हिटलर के स्ट्रामट्रूपर्स और ट्रको के लिए चाभी घुमाकर चलने वाले खिलौनो जैसी तारक और तारिकाओ में एक-सी निर्जीवता, एक-सी जड़ता, एक-सा घृणास्पद व्यापार दिखाई दिया। फिर भी मै 'शाक' हुए बिना न रह सका। अभी-अभी दुनिया अपनी कीली पर और सूरज के आस-पास चक्कर काट रही थी. विण्डेलविल्की उसी दुनिया की उन्नचास दिन में परिक्रमा कर रहे थे और कैमरा लिए हुए फिल्म-संवाददाता उनके आस-पास चक्कर काट रहे थे। सब जगह गति थी। 'मिशन टू मास्को' के ट्रेलर तक में गति थी, और उसके बाद हमारी रोमैण्टिक कमेडी-या-ट्रैजेडी जैसी फिल्म में वही गतिरोध बना हुआ था—वही यकसाँ, वही-वहीपन। उसमे अभिनय नही था, गान नहीं था, छाया नहीं थी, जीवन नहीं था—केवल एक घिनौनी प्रेत-सी, खींच.तानकर लाई हुई नकली कृत्रिमता थी। सब कुछ बनावटी था—सौन्दर्य, आँसू, जीवन के आदर्श, मूल्य, ऊँची चीजें जिन पर हमें नाज था, जिनके लिए सदियों से हमें आदर था। वही शङ्कर और पार्वती, वही नायक और नायिका, वही यौन संकेत, वही शकुन्तला और दुष्यन्त, वही चारुदत्त और वसन्त सेना, वही अशोककुमार और अन्य कोई भी, वही सस्ता प्रेम दिखावा, वही छलना और लाखों करोड़ों लोग, हजारों शहरों में रोज रात के तीन-तीन घण्टे बर्बाद कर रहे थे—इसी विराट् व्यंग पर, इसी खोखलेपन पर, इसी हल्के मनोरंजन पर। घण्टे, पैसा,

शक्ति—सब अपव्यय क्यो ? क्यों ? क्योंकि गतिरोध—दूसरा और कोई मार्ग नही है अनुरंजन का, आनन्द का, समय काटने का ।

···गाना चल रहा था । प्यानो-वायलिन-सारगी-सितार कई वाद्यों का पार्श्व-संगीत था । जनता के मन की इस हीन अवस्था में मुझे लगा, सब प्रान्तों के, सब जातियों के, सब वर्गों के लोग उस गन्दे धुआँ-घर में जमा थे, और बुत बने हुए 'साजन के गाँव चली बम्बई से दुल्हन' या 'ल-ल-ल-ल-ल' जैसे अर्थ-हीन गानों की छिछली वासनाओं को हल्की-सी कुरेद देने वाली कड़ियों की पुनरावृत्ति सुनने बैठे हैं । मैंने सोचा, कि चलो, फिल्म से कोई मनोरंजन न हुआ, जनगण-मन के एक पहलू का तो निरीक्षण कर लिया । यह एक सामूहिक मनोविज्ञान में एक नसीहत-भरा पाठ ही सही । दुनिया सरपट भागी जा रही है, हमारी फिल्में-घोंघे की गति से अभी अपनी पुच्छ-प्रगति में पीछे-कदम ज्यों की त्यों बनी है । साहित्यिक भी उसमे कम नहीं पहुँचे । शून्य, आधे, पौन, पूरे प्रगतिशील-अगतिशील सब किस्म के कलाकार उसमें पहुँचे हैं, पर उसकी गति में कोई परिवर्तन नही हुआ ।

हृदय-परिवर्त्तन

एक बात जो बड़े दिनों से मेरी समझ में नही आई है, वह यह, कि क्यों एक ही व्यक्ति के विषय में दो व्यक्ति बिल्कुल परस्पर-विरोधी मत रखते है। एक उसे देवता मानता है, दूसरा दानव। और जितना महान् वह व्यक्तित्व होता है, उतना ही यह विरोध तीव्र होता है। गाँधी को युग-पुरुष, अवतार और ईसा मानने वाले जहाँ लोग हैं, वही उन्हें बागी और 'बोर्जुआ' और बनिया मानने वाले भी है। और दोनो दृष्टिकोण वाले अपने मतों में दृढ़ और प्रामाणिक होते हैं। जो बात व्यक्तियों की, वही संस्थाओं की है। एक व्यक्ति अमुक संस्था को लोक कल्याणकारी समझते हैं, दूसरे उसी को स्वार्थ का कारखाना मानते हैं। और यह नहीं, कि दोनों के पास प्रमाण न हों। पर्याप्त प्रमाण दोनों पेश करते हैं। त्रयस्थ और तटस्थ का विश्वास इस प्रकार दोनो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में बंटकर टूट-सा जाता है; अगर वह विश्वास निरी भावुकता या अन्ध-श्रद्धा नहीं है। तर्क प्रमाण को आधार मानिये, तो जो चीज़ 'कु' है, वह 'सु' भी नज़र आती है, और उलटे भी।

इसका एक कारण यह है, कि इस सृष्टि की प्रत्येक चीज़, व्यक्ति हो या संस्था, एक अच्छे-बुरे का मिश्रण है। कोई एक ही पक्ष को देखता है, कोई दूसरे को। मान लीजिए, एक बोतल आधी भरी हुई मेज़ पर रखी हुई है। आशावादी आकर कहेगा—'आधी, मगर भरी तो है।' निराशावादी कहेगा— 'किस काम की साहब, आधी खाली पड़ी है।' चीज़ बोतल एक ही है, देखने वाले दो हैं; और उनके रुख परस्पर विरोधी हैं।

अक्सर यह मत—विरोध या मतभेद गलतफहमियों और भ्रमपूर्ण धारणाओं के कारण होते हैं। यह भ्रम कुछ तो व्यक्ति या संस्थाये जाने-अनजाने अपने आस-पास फैला लेते है, और कुछ उन्हें देखने वाले या तौलने वाले। मार्क ट्वेन ने अपनी डायरी में एक जगह क्या ही खूब कहा है, कि हरेक आदमी चाँद के समान है; वह अपना उजला हिस्सा ही दुनिया को दिखाता है, अँधेरा हिस्सा छुपाकर रखता है। बात असल में यह है, कि न तो उजाले को ढिंढोरा ही पीटना पडता है, कि 'मै प्रकाशवान हूँ', और न अंधेरा छिपाये छिपता है। चाँद की पोल अमावस को खुल जाती है, और जुगनू कितना छोटा क्यों न हो अंधेरे में बरबस भासमान हो उठता ही है।

मैंने, जैसे कि हरेक लेखक ने अपने छोटे से जीवन में तीव्र से तीव्र विरोध, गालियाँ तक; और सहृदयो की सच्ची प्रशसा भी पाई है। मै दोनों को नहीं मानता। मुझे लगता है, कि गालियो के रूप में, उन्हीं गाली देने वालों का मैला अन्तस्तल मुखर हो रहा है, और प्रशंसा के रूप मे उसी अन्तराल की पारदर्शिता और उज्ज्वलता प्रतिबिंबित हो रही है। निन्दा—स्तुति से अछूते होकर लेखक को, या किसी भी सृष्टा को जीना है और आत्मशोधन करना है अन्यथा विकास नहीं है।

परमाश्चर्य होता है, वह उन पर जो कल तक निन्दा करते थे, वे आज अच्छा कह रहे हैं, या जो कल तक भला कहते थे, मित्र थे। वे आज कट्टर से कट्टर शत्रु बन रहे हैं, उनपर। इनमें भी दो वर्ग हैं, कुछ सच-मुच प्रामाणिक मतभेद से विरोधी बनते है, या उनकी गलतफहमियाँ दूर होकर वे 'क्रेडिट' देते हैं। परन्तु एक वर्ग उन लोगों का भी है, जो केवल भौतिक (आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक) स्वार्थ के लिये आज एक के मित्र, कल दूसरे के और परसों तीसरे के बन जाते हैं। ऐसे लोगों की मैत्री वेश्यावृत्ति है। ये लोग हमेशा उगते सूरज को नमस्कार करते हैं, डूबते को बुरा कहते हैं। ये लोग स्वाभिमान-हीन

होते हैं और आज अपने अखबार में 'क्ष' के खिलाफ सत्य को विकृत कर चाहे जो लिख मारते हैं। कल 'क्ष' के मित्रो या शिष्यों से कहते फिरते हैं, 'साहब, 'क्ष' हमारे पत्र में क्यों नही लिखते, वे तो अच्छे लेखक हैं' इत्यादि। परमात्मा ऐसे द्विजिह्व, और विश्वासघातक प्रथम— वन्दनीयों से मुझे बचावे। ऐसे कूटनीनिज्ञों का हृदय—परिवर्तन होता ही नहीं, क्योंकि उन्हे कोई हृदय–ही नही है। परन्तु मै आदर करता हूँ। उन उग्र–मनस्वियों का जो ऋणानुबन्ध मानते है, और खरे को खरा या खोटे को खोटा कहने में नही चूकते।

हर व्यक्ति अक्षम है। अपनी भी कुछ कमज़ोरियाँ हैं, उन्हे स्वीकार कर हम क्यों न आगे बढे, उन कमजोरियों को कुचलकर ऐसा विशाल हृदय बनायें जिसमें—'जो तो कू काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल' समा सके।

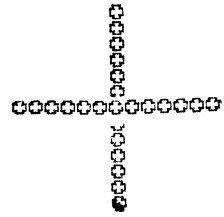

मित्र ने कहा—देखो, समाजवाद ही विश्व कल्याण का एकमात्र मार्ग है; देखते नहीं गणित मे भी यह साला 'धन' छिपा बैठा है। यही तो सब दुःखों की जड है। मूलधन और ब्याज के सवाल भी गणित में ही हैं; और धन न होता तो 'इतने आदमी इतने घंटों में इतना काम करके इतनी मजदूरी पाते हैं।' ऐसे सवाल क्यों होते ?

मैंने कहा—हाँ, आजकल कुछ नई गणित लिखनी पड़ेगी—'इतने आदमी सिर्फ इतने ही घटे काम करके इतनी अधिक मजदूरी पाकर भी काम नही करना चाहते। हडताल करते हैं!'

मित्र हँसा और चला गया।

परन्तु काश दुनिया में धन के विषय बँटवारे की समस्या यों हँसकर टाल दी जा सकती! मित्र के मोटर की धूल की ओर मैं शून्यचित्त, अपनी खिड़की से देख रहा था। शून्यचित्त इसलिए नही, कि मैं भी मोटर खरीदना चाहता था; या यों धूल में अपने साथियों को डुबाना; मगर इसलिए, कि कॉफ्रेन्स में प्रस्ताव करके धन की समस्या नही हल हो पाती, यह मैं साफ देखता हूँ। थोड़ा बहुत अर्थ-शास्त्र मैंने भी पढ़ा और पढ़ाया है; परन्तु वह बहुत कुछ अनर्थ शास्त्र जान पड़ता है।

धन आदमी बनाता है; और उसी के हाथों बनते जाता है । कभी-कभी धन ही उसे बना देता है, हाँ कभी उल्लू भी बना देता है । जब सस्कृत कवि कहते हैं, कि नगाड़े जैसी अचेतन वस्तु भी धन-धन-धन पुकारती है, तो बेचारा आदमी किस खेत की मूली है ? (यहाँ पर मुझे एक अंग्रेजी परिहास लेखक की आदमी के प्रति उक्ति याद आई; वह पत्रों की जगह बालवाली, बीच में चिरी हुई–फार्क्ड–चलती फिरती लाल मूली !) संस्कृत कवि की उक्तियाँ हैं—

दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनस्त, तन्मुखादपि धनं धनं धनम् ।
इत्यमेव निनदः प्रवर्तते किं, पुनर्यदि जनः सचेतनः ।।

यानी भावार्थ यह, कि दुन्दुभी या ढोल के मुख पर लेप करने पर धन-धन-धन ध्वनि निकलती है । आदमी तो आखिर सचेतन है !

इस धन की ही लीला है, कि अमरीका के धन-कुबेर इस दुनिया को तीसरे युद्ध की भट्टी में झोंक देने पर तुले हैं । 'कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय ..यह पाये बौराय !' सिर्फ बौराये ही नही, धन के मद में लोगबाग अन्धे तक हो जाते हैं । लक्ष्मी को पास पाकर कमल नयन विष्णुनारायण भी 'पन्नगभोगतल्पे' (साँप के बिछौने पर) सो गये । इस से अधिक बढ़कर अन्धापन क्या होगा ?

एक आधुनिक अँग्रेजी कवि ए० एस० जे० टैसीमौड की रचना है—'धन' (मनी) उसका अनुवाद यों होगा—

'मैं तुम्हारा मालिक हूँ । तुम्हारे मालिक का मालिक हूँ ।'

'मैं वह पौराणिक 'ड्रैगन' का दाँत हूँ, जिसे तुमने बोया है—(जहाँ यह दाँत बोया जाता अहिरावण–महिरावण के मुँडों की भाँति एक की जगह सौ ड्रैगन पैदा हो जाते; कही कही तलवारे उगती थी) ,मृत और जीवित' मनुष्यों की हड्डियों के खेत में ।'

'वह चलता हुआ पट्टा हूँ, जिसकी चपेट में आये बिना तुम नहीं रह सकते !'

'घड़ी की मुस्कराहट के पीछे की डाँट हूँ !'

'मै वह कागज हूँ; जिस पर तुम्हारे जीवन के दिनों के दस्तखत हैं और गवाह हो चुके हैं।'

'उसे सिर्फ चूहे, कीडे या आग ही खा सकती है।'

'मैं तुम्हारी कब्रों में बैंक नोटों की सरसराहट हूँ।'

'तुम्हारी तुरबत के पत्थरों के नीचे वकीलों का मुहर खोलता हूँ।'

'जो कानूनी वारिस है, उनके कान उस पर झुके है, मै उनका भी प्रेतवाहक हूँ।'

'मैं वह लुच्चा हूँ, जिसकी आखिरी लुच्चाई थी।'

'परमात्मा की दया को खरीद लेना; प्रकृति के माधुर्य को फंसा लेना।'

'सौदर्य पर दाँव लगाना, उसे जीतना।'

'और तिजोरी में ताले में बन्द करके रख देना !'

धन के साथ कृपणता स्वाभाविक बढ़ती है। जितना ही अधिक कोई कमाता है, उतनी ही उसमें की प्रसुप्त संग्रहशील वृत्ति जागती है। राजा मिडास की कहानी प्रसिद्ध है, कि उसने देवदूत से यह वरदान माँगा था, कि जिस चीज़ को वह छुए वह सुवर्ण की बन जाये। उसने गर्म आलू खाने की सोची, सोने के बन गये; निगल न सका। सुन्दर गुलाब का फूल तोडना चाहा, सूँघ न सका—सोने का बन गया; इकलौती लडकी को बाँहों में भरने गया—सोने की पुतली हाथ आई ! एक ओर धनशाही का यह चित्र है। दूसरी ओर चुनौती देता हुआ यूनानी दार्शनिक डायोजीनस है, जिसके पास उसकी अपनी केवल एक वस्तु थी—नारियल की एक कटोरी (नरौटी) जिससे वह पानी पीता था। नंगा टब में बैठा रहता था; बारिश आती तो टब सिर पर ले लेता। जिस दिन उसने यह जाना, कि हथेली को 'कप' जैसा बनाकर अँजुली से पानी पिया जा सकता है, तब उसने वह अपना

आखिरी परिग्रह नरौटी भी फेंक दिया ! वही डायोजीनस था जिसने विश्व विजय करने निकले सिकन्दर से चुनौती भरे स्वर में सिर्फ यह कहा था—मुझ पर छाँह न करो, मेरे और सूर्य के बीच से हट जाओ, बस !

क्षीरसागर में शेष की शय्या पर सोये पुरुष पुरातन की चंचला वधू लक्ष्मी के बारे में यह कहा गया है, कि साम के बिना पनीह स्वतंत्र हो जाती है। सरस्वती की सास लक्ष्मी है ! अतः बेचारी सरस्वती सती होने पर भी असती कहलाती है और लक्ष्मी जी चंचला होने पर भी सर्वत्र पूजी जाती हैं। संस्कृत कवि की उक्ति है, कि उक्ति जब तक लक्ष्मी होती है, तब तक 'भवन', 'वधू', 'सुख', मिलता है; उसके अभाव में पहिला अक्षर लोप हो जाता है—वन, धूः (भार, बोझ), खम् (शून्यवत्) मिलना है ! परन्तु इस लक्ष्मी का नाम नारायण से भी पहले लिया जाता है। एजरा पाउंड नामक आधुनिक अंग्रेजी कवि की उक्ति है—अमीरों के सब नौकर होते हैं, एक भी मित्र नहीं होता; गरीबों के सब मित्र होते हैं, एक भी नौकर नहीं होता !

दरिद्रता की प्रशंसा बड़े-बड़े विचारकों और कवियों ने की है। पता नहीं क्यों ? मैं तो साहब, दरिद्रता को दरिद्रता ही मानता हूँ और यह समझता हूँ, कि सब डायोजीनस या विनोबा भाई नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—

हे दारिद्रय, तुमि मोर करेछो महान
तुमि मोर दानिया छे कृष्ठेर सम्मान
कंटक–मुकट–शोभा !

(हे दारिद्रय, तुमने मुझे महान बनाया, तुमने मुझे कृष्ठ (ईसा) का सम्मान दिया, मेरे सिर पर कंटक मुकुट की शोभा दी !) और वैसे ही कई कवियों ने गाया है—रंग लायेगी हमारी फ़ाकामस्ती एक दिन ! या 'हम खाक-नशीनों की ठोकर में जमाना है !' वगैरह-वगैरह !

परन्तु मैं तो डा० जान्सन और शूद्रक की भांति मानता हूँ। दारिद्रयम् सोच्छ्वासं मरणं ! क्यों गरीबी की झूठी प्रशसा की जाये ! क्यो गरीबी ओढ़ कर व्यर्थ फिरें ? बर्नार्ड शा ने कहा है, कि—गरीबी सब से बडा पाप है ! हाँ सच है, यह पाप किसने बनाया, बढाया ! लक्ष्मीपति भगवान ने, या किसी दरिद्र सुदामा नारायण ने ?

धन बहुत अधिक जमा होकर, अ-गतिशील होकर स्वयम्-मारक विष बन जाता है, खूब मुनाफा कमाइये; कहाँ तक—उसकी एक सीमा है ! उसके बाद उसे बाँटोगे नहीं; पूँजी को मृत बना दोगे तो वह और पैदा करेगी क्या ? पूँजी अपने आप में कोई माने नही रखती; वह साधन मात्र है। इसीलिए लक्ष्मी को 'चंचला' कहा है, इसमे बडा रहस्य है। गड़ा हुआ धन कोयला बन जाता है।

धन की सार्थकता इसी में है, कि वह चलता रहे। वह उपयोगिता की अपेक्षा में मूल्यवान है। जब 'करेसी' गिर जाती है, तब एक समय फ्राँस में 'सेंट' (सिक्का विशेष) के नोटों पर चाय उबाली जाती थी और विश्व में जो आर्थिक मंदी की लहर आ रही है; उसमें क्या पता, कि आज के कहे छोटे मोटे धनपति धूल की आँधी में चकराते पत्तों की तरह उड़ जायेंगे।

सीधा गणित है, एक धन एक बराबर दो। परन्तु यहाँ तो एक धन एक ग्यारह हो रहे हैं। यही तो सारी दुविधा है। या तो एक का एक से धनत्त्व गलत है; या फिर ये ग्यारह दो बनकर रहेंगे या फिर नौ-दो ग्यारह हो जायँ।

धनपतियों के लिये मेरे प्रिय कवि डी० एच० लारेंस की लम्बी कविता—'हाऊ बीस्टली दी बोर्जु-आइज़ !' (पूँजीवादी कैसे पशु होते है !) नहीं दूँगा। वह बहुत सख्त है। सिर्फ उसकी दो तीन पंक्तियां, जो बहुत अच्छी हैं, देता हूँ और धन-राशि अपना भविष्य देखने वालों को यह नवीन सूचना देना चाहता हूँ, कि वैज्ञानिक ऐसा

आविष्कार कर रहे हैं, जिससे सोने का जो मूल्य आज है, वह नहीं रहेगा, (और तब सोने और जागने में बहुत कम अन्तर बचा रहेगा) वे पंक्तियाँ यों हैं—

These bugs are better than men:
They suck only their bellifull,
They do not deposit my blood in the bank !

[ये खटमल आदमियों से बहतर हैं। वे सिर्फ अपने पेट भर खून चूसते हैं; वे मेरा रक्त बैंक में ही जमा नहीं करते !] और हिनेयर बलाक ने लिखा है—

I love not God, I love not rhyme,
money gives me pleasure all the time.

(मैं परमात्मा से प्रेम नहीं करता, मैं कविता से प्रेम नहीं करता। परन्तु धन मुझे सदा आनन्द देता है।)

पैसे के बारे में कुछ और अच्छी बातें पढ़ने को मिलीं सो जाने देता हूँ। वोल्तेया ने कहा है—'पैसे का प्रश्न आने पर सब का धर्म एक ही हो जाता है।' अर्थ का काम ही आज का धर्म है ! अर्थ ही मोक्ष देता है एक और अज्ञात नाम व्यक्ति का कथन है, कि भगवान का पैसे के बारे में क्या विचार है, यह जानना हो तो वह जिन्हें पैसा देता है, उनकी ओर देखो !

डिकन्स ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'डेविड कापर फ़ील्ड' में एक हिसाब दिया है—

वार्षिक आय—बीस पाउंड।

वार्षिक व्यय—उन्नीस पाउंड, उन्नीस शिलिंग, छः पेंस।

उत्तर = सुख।

वार्षिक आय—बीस पाउंड।

वार्षिक व्यय—बीस पाउंड, शून्य शिलिंग, छः पेंस।

उत्तर = दुःख।

स्वर्ग और नर्क

आज के सामान्य मनुष्यो को मरणोंत्तर जीवन के प्रश्न नहीं डराते; क्योंकि नित्य प्रतिदिन के जीवन में ही उसे मरने तक की फुरसत नही है। इतना अधमरा बना देने वाला, काम कराते हैं। उसके लिये जीना मरना एक समान हो गया है। उसे यदि पूछो, कि 'मरने के बाद कहाँ जाओगे ? तुम्हारा क्या होगा ?' तो उसका जवाब भी वह एक सामान्य जन की भाँति सीधे देगा—'और कहाँ ? मसान में।' सामान्यतः सर्वसाधारण की 'मरने के बाद' की कल्पना चिता या कब्र तक जाकर रुक जाती है।

मगर जिज्ञासा हनुमान की पूँछ की तरह अन्तहीन है। 'और फिर बाद मे, इसके अनन्तर, इस दुनिया के पश्चात्त, उस पार प्रिए...?' आदि क्या होगा के, प्रश्न बराबर पीछा करते जाते है। युद्धोत्तर पुनर्रचना की मीठी-मीठी सपनीली योजनाएँ जैसे आज कल के अवकाश प्राप्त अर्थशास्त्रज्ञ और चट राजनीतिज्ञ बनाया करते हैं, उसी प्रकार से इस जीवन-युद्ध ('जीवन है संग्राम, बन्दे'—इति) के उपरान्त का कच्चा नक्शा बना लेने की रूढ़ि प्राय. सभी जातियों में और धर्मों में प्रचलित है। जिस प्रकार एक स्कूली लड़का अपने से तगड़े और शरीर विद्यार्थी के हाथों मार खाने पर दिवा-स्वप्नों द्वारा वह अपने दिल के अरमान पूरे कर लेता है; उस बदमाश को मैंने खूब पीटा है, चित्त कर दिया आदि इच्छापूर्ति के चित्र मनश्चक्षुओं के सामने रंग लेता है; करीब-करीब वैसी ही हालत मरणोत्तर जीवन की कल्पना के बारे में

भी है। स्वर्ग-नरक; जन्नत-जहन्नुम; पैरेडाज-हेल; मरणोत्तर सुख-दुख: की प्राय: सभी रूढ़ कल्पनाएँ ऐसी ही स्वप्नरंजनात्मक हैं।

इतना ही नहीं, स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं में वर्गीय स्वार्थी भी प्रच्छन्न रूप से दिखाई देता है। नीचे दिये उदाहरणों मे यह साफ जाहिर होगा।

स्वर्ग, नरक, देवलोक बैकुण्ठ और उससे उलटे नाग लोक, यमलोक या नागलोक की हिन्दू कल्पना भी जीवन सब के परिचय की है, अत: उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। पोथी-पुराण में कथा के अन्त में केवल पारायण मात्र से (किन्तु उसमें ब्राह्मणों को दक्षिणा-ताँबूल-गुडोपहार-नैवेद्य आदि सब विधिपूर्वक यथासाँग होना चाहिये) पुण्यसंचय और इस पुण्य की सीढ़ी द्वारा सीधे स्वर्लोक में कोई अमर पद सहज प्राप्त हो जाने की लालच लिखी रहती है। उलटे, यदि इस शास्त्राज्ञा की अवहेलना या सविनय कानून भंग की बात की, तो सीधे 'मोक्षपट' (एक प्रकार का खेल जिसमें सीढ़ी और साँप बने रहते हैं) में के अगजर जैसे नरकयातना के आर्डिनेन्सों का आपके पीछे डंडा चलने लगेगा। बचपन में 'कल्याण' मासिक-हिन्दी का एक मात्र, विज्ञापनविहन, सर्वाधिक ग्राहक सख्या वाला धर्म-अध्यात्म इत्यादि सर्व साधारण के लिये दुर्ज्ञेय विषय के पत्र में मैने चिकने आर्ट पेपर पर अनेक रंगो में छपे हुए नरक यातनाओं के भयानक चित्र देखे थे, और मध्यम-वर्गीय पापभीरु मन सिहर उठा था। परन्तु धीरे-धीरे जब पाप से परिशुद्धि की आसान युक्ति समझ में आ गई, तब धर्म-व्यापार का यह ढोंग से भरा हुआ मुखौटा अधिक देर न टिक सका। जनेऊ बदलते समय प्रतिवर्ष श्रावण पूर्णिमा को एक धार्मिक विधि होती है, जिसमें ब्राह्मण 'हेमाद्रि' नामक एक पापों की तालिका पढ़ते हैं—उसमें हाथ के नाखून दाँत से चबाना; यावनी (अर्थात् अंग्रेजी भी) भाषा पढ़ना पढ़ाना आदि कई प्रकार के पाप शुद्ध हिन्दुत्व की दृष्टि से माने गये

हैं। परन्तु इन पापो का क्षालन भी कितना सस्ता होता है? जरा-सा गोबर-मिट्टी-राख-गोमूत्र आदि 'पंचगव्य' चलने और बदन पर मलते ही वे पाप, एक बरस तक,— दूसरी श्रावणी आने तक— फिर करने की छूट मिल जाती है। रात के पाप 'प्रभाते शिवहर्शम्' मात्रा से विलीन होते हैं। रोमन केथोलिक ईसाइयों में पादरी के सामने पापिणी जाकर 'कन्फेशन' (स्वीकृति) कर ले की फिर हो गई वह शुद्ध, श्वेत। शरारती मोंपासा ने इस बात को लेकर कई व्यंग्य-कथाएँ लिखी हैं।

परन्तु मान लो कि, पश्चात्ताप दग्ध होकर पुनः पंडित-शास्त्री-पादरी-मौलवी के चरणो शरण आने की सद्बुद्धि या विवेक कुछ भ्रष्टात्माओ में न हो तो? उनके लिये तो वही निदारुण यातनाओं वाले रौक-यत्र है ही, जो कि फ्राँस की राज्य क्रांति के समय के गिलोटिन, मास्को-मुकदमो के वक्त खैरात की तरह बँटी फाँसियाँ अथवा उनसे भी अधिक त्रासदायक शारीरिक दड विधान की भाँति कठिन-कठोर हैं ही। क्योकि चाहे भक्त हों, चाहे भगवान, दोनो ही अपने शरीर को कष्ट न हो, कोई खरोंच न आये, इससे अपने आपको बराबर बचाये रखते हैं। अपनी चमड़ी बचाने की यह वृत्ति हड्डियों मे घुसी है। इस कारण से 'इन्फोर्नो' (जलते हुए नरक) की कुछ निकट से पहिचान करले। स्फिक्स, भूत प्रेत मानने वाले और मृतदेह को मसाले में प्रदीर्घकाल तक रखने वाले मिश्रियों में सबसे पहिले यह पाताल लोक की कल्पना थी। अपने यहाँ के यमराज के समान उनमे 'ओसिरिस' पाताल का अधिपति माना जाता है। वह धर्मराज के समान दयालु है। इस पाताल लोक के रात के मुहुर्त्त के समान १२ खड हैं। हाँ, अत. सद्धिला नाइल नदी वैतरणी के समान बहती है। एक नौका में मृत शरीर बहा ले जाती है। दुखः की कड़ुवास के बिना सुख का शहद जैसे स्वाद युक्त नही जान पड़ता; उसी प्रकार मिश्रियो के प्रति भोजों में मुर्दा दिखाने के लिए लाते थे। यूनानी लोगों ने मिश्रियों से ही यह कल्पना

आदि पेयों द्वारा तथा यज्ञ में के 'आज्य' और देवताओं के उच्छिष्ट अधिकारों का आधा हिस्सा इस हिसाब से खाद्यों की अखंडता द्वारा लिया गया है।

तात्पर्य यह, कि स्वर्ग नरक की जो कपोल-कल्पित दंतकथाएँ हैं वे इस मृत्युलोक भव पर की अपूर्त आकाँक्षाओं की स्वप्न-पूर्ति मात्र हैं। नरक के 'कौआडरावन' जम्मात के क्षेत्र में कहीं क्राँति की बातें न आ जाय वर्ग-स्वार्थ के विरोध में वे कहीं विद्रोह न कर दे इस विचार से खड़े किये गये थे। स्वर्ग की मीठी-मीठी आटे की गोली जो काँटों में लगाई गई थी, वह भी अविवेकी अधश्रद्ध भावुक समाज रूपी मछली को जाल में पूरी तरह फाँसने के लिये ही थी। गरीब को इस दुनिया में जो सुख चाहिये वह स्वर्ग में फेंक कर और अमीर को एक बहुत दूर के असम्भव अज्ञात नरक का एक झूठा डर दिखा कर, स्वाधीनता के लिये लड़ने वाले पुरुषार्थ को एक तरफ ढकेल कर, बड़े लोगों की कारस्तानी पर, उनके गहरे मामलो पर सुविधा जनक ओढ़नी डालकर, धर्म सदियों से यह स्वर्ग-नरक का नाटक सब देशों में, सब कालो में खेलता आ रहा है। आज विज्ञान विवेक की तर्क-शुद्धता ने इस नाटक का दर्शनी परदा (ड्राप) फाड़ डाला है। स्वर्ग नरक की दो झूठी स्वप्न-पूर्ण कल्पनाओं को तोड़ दिया है। आज का जन साधारण 'राम-राज' और 'हुकूमतें अल्लाह' और 'किंगडम ऑफ गॉड' की मीठी-मीठी बातों से बहलाया नहीं जा सकता। वह स्वर्ग के विलोभनीय मृगजल के पीछे नहीं भागता; न-ही नरक की अयथार्थ डरावनी सूरत उसे पीछे हटाती है। वह अपने कर्तव्य पर डटा रहता है। उसे गीता के कृष्ण की भाँति कहने की जरूरत नहीं, कि 'बाबा तू जीत गया तो मही का राज भोगेगा, मर गया तो स्वर्ग प्राप्ति है ही।' उसे अच्छी तरह मालूम है कि क्या स्वर्ग और क्या नरक निराकार निर्गुण नहीं। जिसकी बाजुओं में ताकत है और मन में हिम्मत हो वह इसी धरती पर स्वर्ग निर्माण कर सकता है—नहीं, वह कर ही रहा है।

रक्षा

'जल बल भई राख की ढेरी, अपने अग लगा जा'—मीरा

राख के साथ-साथ रक्षा का दूसरा अर्थ बचाव या रोक भी होता है। जैसे विभूति के भी दोनो अर्थ होते हैं, भभूत और महापुरुष, यह 'रक्षा' विषय हमारे मन मे इसलिए उठ खड़ा हुआ, कि परसों हमारे मित्र एक बहुत बड़ा ताला खरीद कर लाये। वैसे मित्र महोदय के घर में चोरी लायक कोई चीज़ खास थी नही; परन्तु कौन गरीब से गरीब भी अपनी निधि को अरक्षित रख सकता है या देख सकता है? अब चन्द्रगुप्त मौर्य का ज़माना तो नही रहा, जब लोग घर में ताले नहीं लगाया करते थे। आज कल जहाँ देखिये वहाँ तालाबन्दी है। 'पर्स' में ताला है, दराज़ में ताला है, जबान पर ताला है।

ताला या बागड़ या कँटीले तार या सात दीवार आदि रक्षा के बन्धन खडे करने की मनोवृत्ति कुछ नई नही है। वेदों में कई स्तोत्र हैं—'हे इन्द्र! हमारी रक्षा करो! हे वरुण, हमारी रक्षा करो!' एक युग रहा होगा जब मनुष्य सर्प का मित्र था, क्योंकि मिश्र, काबुल और असुरिया भी आदिम सभ्यताओं के इतिहास में सर्प की बड़ी महिमा हैं। उनकी कहानी में, चित्रों में, पुराणों में सर्प का बहुत उल्लेख है। सर्प से आदमी को भय या घिन कब से पैदा हुई? जब उसने धरती को सिर पर ढोने वाले शेषराज को बहुत विश्वासघाती पाया यहाँ तक, कि तक्षक से परीक्षित फल रखना भी सुरक्षित नहीं समझते थे। इसलिए ताला हो या न हो इसका क्या भरोसा कि चोर घर में

ही नही है और मसल मशहूर है, कि हर आदमी के दिल में एक चोर छिपा बैठा है। बदनामी से रक्षा। कहाँ-कहाँ तक अपने आप को बचाइयेगा ? इस रक्षा को सुसंगठित बनाने के लिए आदमी ने फौज-फाटा, पुलिस, गश्तवान, पहरेदार, सी० आई० डी० और क्या-क्या नही बना डाले पर चोरियाँ होती रहीं। आदमी मरते रहे। छल-छन्द, षड्यन्त्र और विश्वासघात भी विस्तृत प्रमाण में होते ही रहे। आदमी के दिल का चोर—सन्देह कभी नही मिटा। शोपेनहार एक बडा जर्मन विचारक था। पर नाई से इसलिए बाल नही बनवाता था, कि क्या पता वह उसकी दाढी के बजाय गला ही साफ कर दे। तब शायद 'सेफ्टी रेज़र' (सुरक्षित उस्तरे) नही रहे होगे। आलमगीर तो अपनी बेटी पर भी एतबार नही करते थे और ऐसे नेता मौजूद भी हैं जो हिटलर की तरह अपने साथ-साथ सदा शरीर-रक्षक रखते हैं।

इसलिए इस संशय का कोई पार नही—'संशयात्मा विनश्यति।' वहम की दवा लुकमान के पास भी नही। देखा गया है, कि ठण्ड से अपने-आप को बचाने वाले, हमेशा ऊनी गुलूबन्द और मिर्ज़ई पहनने वाले अक्सर निमोनिया से मर जाते हैं और उबाल-उबाल कर साग और पानी का व्यवहार करने वाले भी हैजे के शिकार हो जाते हैं। रक्षा तभी सम्भव है जब रोग का मूल नष्ट किया जाये। एक आदमी 'पेनिसिलीन' का मँहगा इंजेक्शन ले ले या दस-पाँच दिन भुवाली के क्षय-चिकित्सालय में आराम भी पा ले तो देश के स्वास्थ्य में कोई वृद्धि नही होती और न मृत्यु संख्या ही घटती है। आज तो यह हो रहा है, कि अशर्फियों की लूट और कोयलों पर मुहर है। जहाँ रोक होनी चाहिए वहाँ छूट है और जहाँ स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए वहाँ सुरक्षा-विधान है।

रक्षा में बड़े गुण-धर्म हैं। सिर पर और शरीर पर मलकर 'बाबा जी' बन सकते हैं, और कहते हैं, कि राख के जो 'पौटेंश' हैं वे खाद के काम में आवे हैं। वैसे सभी धन्वन्तरियों के पास भस्म तरह-तरह की

होती ही है और चुटकी से राख फूँककर अभी भी इस देश में आप के पास धन्धा न हो तो गाँव में झाख-फूँक कर ओझा ही बन सकते है। इसीलिए इस देश का रखवैया भगवान है, रक्षा-मन्त्री स० बल्देव सिह तो निमित्तमात्र है।

कई छोटे-मोटे ठिकानो में देश रक्षा का भार ऐसे-ऐसे महापुरुषो के कन्धो पर आ पड़ा है, कि युद्ध-कला या सेना-विज्ञान का ककहरा भी नही मालूम। एक सिपाही उस दिन कह रहा था, कि कई नेताओ को फौजी सलाम किस तरह किया जाता है, यह तक पता नही। तब विमान-विध्वसक विद्या तो बहुत दूर की चीज़ है; परन्तु रक्षा का शास्त्र मालूम हो या न हो रक्षा कार्य तो जरूर ही किया जाएगा और कुछ नही तो अहिसक रक्षा तो कर ही सकते है।

बम्बई में भैया या पठान पहरेदार रखे जाते है जिनका काम बड़े, बडे बँगलों के आगे एक छोटे कमरे में चारपाई डालकर पडे रहना, और कोई ऐसा वैसा अन्दर आने की कोशिश करे तो बन्दूक का कुन्दा उस पर तान देना—बस इतना ही होता है। मगर वह हमारी प्राचीन-संस्कृति और विद्या के रक्षक अध्यापकों से ज्यादा अच्छा वेतन पाता है। ऐसे डरावने पहरेदार बैंकों और खजानो पर अक्सर दिखाई देगे। मगर फ्राँस में जब क्रांति हुई तब यही महल और जेल के रक्षक बदल गये, और उन्हे सहसा भान हुआ, कि अब तक हम जिस चीज की रक्षा कर रहे थे, वही तो हमें सबसे अधिक अरक्षित रहने के लिए बाध्य करती है। यों रक्षा के माने बदलते जाते हैं। किसी युग में सत्य की रक्षा परम-धन था, अब धन की रक्षा परम सत्य है।

आदमी अपनी जान बचाए, अपना माल बचाए, यह तो समझ में आ सकता है। परन्तु आजकल आदमी की सारी चिन्ता अपना अधर्म, अपना पाप और अपना शोषण बचाए रखने की ओर लगी है। इसके लिए उसने क्या-क्या नहीं कर डाला? हाल में सुना, कि बनस्पति घी

में जीवन-तत्व होते हैं (गो कि बिल्कुल नहीं होते हैं) वैज्ञानिकों से यह मनवाने के लिए विशेषज्ञों को खासी रकम दी गई और उनके आजीवन और पीढी-दर-पीढ़ी की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। इसी तरह और कई बातों में झूठ को सच साबित करने में मनुष्य की शक्ति, पैसा और समय खर्च हो रहा है। दुनिया की हालत इस सारे विराट-ज्वालाकाण्ड में ऐसी हो गई है, कि परम राखनहार अगर कोई हो तो उससे आजिज़ होकर, दुनिया यह कहना चाहती है, कि—'जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा।'

१९४७ }

युद्धस्य वार्त्ता रम्या

हमने, आपने, उन्होंने सब ने सुना, कि लड़ाई छिड़ गई। सुना और ी गये। सुना और हड़बडाये। सुना और बड़बड़ाये। हाट-हाट में, बाट-बाट में, नगर में और देहात में, हर कही यही एक चर्चा। गाँव में चौपाल पर, अहीर और चमार और खेतीहर और सिपाही की गँवार बहू—सब ने लडाई के बारे में अपनी-अपनी बुद्धि के नाप से एक पूरी वक्तृत्वोत्तेजक—सभा बना डाली। बनिये की दुकान पर सेठ जी भावों की तेजी-मन्दी पर फूलने और शेखचिल्ली वाले हवाई महल बनाने लगा, पर मियाँ को जो सरकारी डाँट मिली तो भाव सूत से यकसां, समतल हो गये। लाइब्रेरियों में अखबारों पर लोग यूँ टूटने लगे, जैसे गुड़ पर चीटियाँ। रेडियो हाथों-हाथ बिकने लगे। शहर के अंग्रेज़ीदां बहुत से नये-नये शब्दों और विदेशी शब्दों के शब्दोच्चारणों और अर्थ वाद पर उलझने लगे। ज्योतिषी जी को खुशी हुई, कि चलो हमारा ज्योतिष सच निकला। मतलब, कि एक ही भगदड़ मच गई।

लड़ाई शुरू तो हो गई और लड़ाई वह चीज है, कि एक बार शुरू हुई, कि बस, रुकने वाली नहीं और रुकेगी भी तो टूटकर; क्योंकि लड़ाई का मतलब ही खिचाव, तनाजनी, आपसी बैर, फूट, मनमुटाव, गाली-गलौज, रस्साकशी है। राम ने शाम को नकटा क्यों कहा? चलो शाम ने राम को पीटना शुरू कर दिया और शाम अगर दब्बू हुआ, कमज़ोर हुआ और सीधे चाँटा रसीद करने की हिम्मत न हुई, तो वह क्या करेगा? मन में अदावत रक्खेगा और मौका ढूंढ़ेगा। आया मौका,

कि चलाया डंडा। जर्मनों ने भी वार्साय की सन्धि में अपना अपमान समझा, मगर प्रतिहिंसा भी लेने ये अक्लमन्द बढ़े तो कब—पच्चीस बरस बाद ? असल में जर्मन लोगों ने अपमान समझा नहीं, उनके जहन में वह अपमान था, अपमान था, यह बात बार-बार हथौड़े से ठोंक पीटकर उतारी गई। आखिर जर्मन लोग भी आदमी ठहरे, उनकी भी कमजोरियाँ हैं। वे उस फाशिस्ट-राक्षस की बहक में आ गये और ताकतें जो अब तक दूर से ही बन्दरघुड़की दिखला रही थी—चली अपने बाजू का ज़ोर आजमाने। मसल मशहूर, कमज़ोर को गुस्सा भारी।

और गुस्से ने एक बार आदमी के बुद्धि पर चढ़ाई की, कि गीता की शरण लेकर 'क्रोधात् भवति संमोहः, समोहात् स्मृतिविभ्रमः. स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो और बुद्धिनाशात् विनश्यति' आदि पंक्तियों को दुहराने की ज़रूरत नहीं। हिटलर को वो ताव आया, वो ताव आया, कि उसके ज्ञान रूपी नेत्रों की ज्योति जो है सो, अन्धी हो गई। अविवेकी क्या न करे ? या कहें मरता क्या न करता ? हिटलर भी लड़ाई पर बुरी तरह मरता है। नतीजा यह है, कि दुनिया के बहुसख्यक अक्लमन्दों ने उसे पागल करार दे दिया है।

क्या हिटलर को पागल से बढ़कर और किसी बहतर शब्द से पुकार सकते हैं ? जब संसार के लोकतन्त्र संगीनें ताने सामने खड़े हैं, जब पोलैण्ड का अट्ठारहवी और उन्नीसवी सदी का इतिहास सिर्फ बार-बार दबाये जाने और उसकी प्रतिक्रियाएँ पुनः-पुनः संगठित होने की कई मिसालों के कोई और बात पेश नहीं करता, जब जर्मनी को अपने अन्तर्संगठन और सांस्कृतिक विकास में जुट जाना निहायत जरूरी था, तब एक भला आदमी उठता है और कहता है, कि मैं सिकन्दर बनूँगा ! भाई, सिकन्दर बनने का जमाना अब जाता रहा। नेपोलियन भी बन सको तो बहुत समझो। हिटलर आखिर एक दर्जिन बच्चा तो

ठहरा ही। लड़ाई फिसाद झगड़ा हिटलर के खून में है। वह अपनी जीवनी का नाम रखता है 'मेरा संघर्ष'। उस पर लड़ाई का नशा सवार है और वह एक खूँखार, गैर जिम्मेदाराना, मानवता का शत्रु, भेड़िया है। दुनिया भेड़ियों से अक्ल सीखे इतनी बुद्धू अब नहीं रही।

परिणामतः नगर नष्ट-भ्रष्ट होते हैं, गाँव के गाँव बेचिराग हो रहे हैं। 'पीस दूँगा एक गर्दिश में, जहाँ कुछ भी नहीं।' हिटलर की वह अचकचा कर, गला फाड़कर, दबी हुई वज्र-मुष्टियों वाली वक्तृता है, उसके पीछे विज्ञान और अर्थ शास्त्र, राजनीति दर्शन दस्त-बस्ता गुलामों के तौर पर चले आ रहे हैं। वह चीखता है। योरुप में एक तहलका, हंगामा मच जाता है। वह वाङ्मयान पर चढ़ता है और आधुनिक भूषण होते तो कहते—'केराकेसे पात फहरात शेषनाग के।' हिटलर के दिमाग का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा, कि 'प्रसंगावधान' या विवेक नाम की चीज उसमें अनुपस्थित हैं। वह जो है, आदिम मानव है। बर्बर जिघांसा से परिपूर्ण है।

और यही कहते-कहते सहसा मुझे इस बात का ध्यान हो आता है कि क्या उसकी जिज्ञासा, उसकी बर्बरता के पीछे उसके प्रति किया गया कोई अन्याय तो नहीं छिपा है? माना कि वह पशु है, उसने चेक राज्य, आस्ट्रिया आदि का अत्यन्त क्रूरता से अपने राज्य में शामिल कर लिया था। परन्तु क्या यह उसके प्रति किये गये उन अत्याचारों उन चालबाजियों, उन भयानक गुप्त स्वार्थों के समूचे रूप के प्रति उसकी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रिया नहीं है?

आप कहोगे, कि अभी के अभी आपके मतों में इतना परिवर्तन क्यों हो गया?

इसका उत्तर है यही, कि मानव दुर्बल है और हिटलर भी दुर्बल है और युद्ध तो मनुष्य की दुर्बलता का अतिरेक है। हाट-हाट में, बाट-बाट में, ओट-ओट में, जिस युद्ध की प्रतिध्वनि सुनाई आ रही है वह युद्ध

हमारे आस-पास भी होता रहता है। हमारे आसपास घर बाहर होने वाले युद्ध का वह अतिरंजित स्वरूप हमारे मन को अधिक भयभीत करता है; क्योंकि उसमें से उठती है सामूहिक चीत्कार, सामूहिक नाश का भयकर क्रन्दन।

सब बातों पर सोचते-सोचते, सर्व ज्ञान की प्रतिष्ठा से हाथ न धो बैठूँ, इसलिए कभी-कभी ईमानदार भी होना पडता है। जीवन तो चिर-विरोधी तत्वों से बनाना पड़ता है। न्याय और जागतिक शांति की रक्षा करने की हामी भरने वाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हिन्दुस्तान के साथ न्याय क्यों नही करते ?

यही देखते-देखते भाई, यह मालूम होता है, कि जीवन एक संग्राम है जिसको हम-तुम नही मिटा सकते।

१९३९ }

जी—ना

'जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।'

'जी' का अर्थ है हाँ, और 'ना' का मतलब भी आपको बताना होगा ? यह वह नायिका भेदवाला 'ना' नही है, जिसमें मतिराम हाँ ही देखते थे। सो हाँ-ना के तानेबाने से, साहब, यह दुनिया बनी है। कभी ऊँच है, कभी नीच है; धूप है, छाँह है; आशा है, निराशा है; कट्रोल है, डीकट्रोल है; उपवास है, दावते हैं; जीना है, मरना है; पाक है, नापाक भी है।

मैं समोच्चारी और समदर्शी इन्हीं शब्दों पर कुछ कहने जा रहा हूँ। जिन्न से शुरू करता हूँ —क्योंकि उसके माने हैं भूत। अंग्रेजी भाषा में भी यह शब्द djinn के रूप में ले लिया गया। अरब रात्रि-रहस्य में इन जिन्नातों के, परियों के और फरिश्तो के बड़े वर्णन हैं। 'जिन्न' शब्द की ध्वनि में ही कुछ भिन्नाहट हो आपको छोड़ती नही, जो आपका पीछा ही करते जाती है, जैसे कई मधुमक्खियाँ आपका पीछा कर रही हों। यदि आपने भूत-प्रेतों की कहानियाँ पढ़ी हों, तो उनका आपके मन पर असर कितना भयानक होता है, यह जिन लोगो ने बचपन में भूतनाथ या राइडर हैगार्ड की 'शी' या 'क्रीपी स्टोरीज़ आम्निबस' पढ़ा हो, वे ही बतला सकते हैं। भूत अविस्मरणीय है। इसी कारण हमारी कई राजनैतिक पार्टियाँ उस भूत को फिर वर्तमान करना चाहती हैं। ऐसे भूत-वादियों से हनुमानचालीसा का पाठ बचाये। आजकल साहित्य में भी कुछ बड़े भूत नज़र आने लगे है; केशव प्रेत योनियों में गये हों या न गये हों; 'अगियाबैताल' तो जनयुग में मौजूद हैं।

'जिन' अरबी जिन्न से ठीक उलटा है—ज्ञानी पुरुष। जैनियों में ये बहुत होते है, इसी से तो वह सबसे मालदार कौम आज भारत में है। 'जिन खोजा तिन पाइयां'—वैसे खोजा लोग भी भाटियो की तरह अमीर होते हैं; किन्तु वे 'जिनराज' को नहीं मानते। जैनियों के देवता वृषभदेव आदि उनके पुराणों में 'सुवर्ण' के बताये गये है। हिन्दी में तो जिन-जिन ने 'जिन' का प्रयोग किया सो या तो संज्ञा के रूप में या क्रिया-विशेषण के।

'जिन्ना' शब्द पर आकर मति 'अटक, ठिठक, बौरानी' हो जाती है। चूंकि इस शब्द में उपर्युक्त 'जिन्न' और 'जिन' दोनो का समन्वय है। कुछ लोगों के लिए जिन्न देवता है; अधिकाश लोगो को अरबी अर्थ में 'देव'। मैंने सुना था कि काठियावाड़ मे गुजराती में छोटे या नन्हे को 'झीणा' कहते है; उसी से यह उपनाम पड़ा। मगर यह छोटा बड़ा खोटा निकला; बड़े-बड़ों के कान इसने कतर लिये। शकर ने इसके सैकड़ों व्यंगचित्र बनाये होंगे; परन्तु एक आँख को चश्मा लगाने वाला यह दुबला-पतला बैरिष्टर एक आँख वाले वैवेल से भी बहुत ज्यादा कामयाब निकला—कूटनीति मे। यह 'शाहशाह-ए-हुकूमते पाकिस्तान' अगर फिर हारुल उलरशीद या सुलतान मुहम्मद तुगलक बनने के ख्वाब देखने हों, तो उन्हे साफ कह दिया जाय—जी, ना!

'झीना' शब्द कुछ मुलायम है और कवियों को विशेष प्रिय है। कबीर ने लिखा—झीनी झीनी बीनी चदरिया''। ईजानिब ने भी पन्द्रह साल पहले एक कविता में लिखा था—'वादक, है तुझमें-मुझमें धुँधला-सा पर्दा झीना!' गर्ज यह, कि तब हम कविता खास समझते नही थे, मगर रहस्यवादी से कम कवि बनना नही चाहते थे। झीनापन कुछ रहस्य-मयता, गोपनीयता, कुछ 'चिलमन-पन' लिये हुए है। मतलब महीन है। परन्तु स्वर भले ही झीना हो, जो प्रेम की भावना वे उससे उद्घोषित करते हैं वह बहुत बार बहुत मोटी होती है। बात यह है, कि इस कंट्रोल-युग में मोटी बातें भी झीनी बनती जा रही हैं। जैसे

लोगबाग मोटे ग्रन्थ न लिखकर आजकल पुस्तिका लिखते हैं।

अब असल समस्या दरपेश है। शब्द 'जिना' लिख तो गया, परन्तु यह पुल्लिंग अरबी शब्द कुछ बेहद असभ्य है; और मेरी उर्दू डिक्शनरी उसका कुछ अर्थ ऐसा बतला रही है, कि उसके बारे में क्या लिखूँ? कुछ लिख दूँगा तो वैसे ही प्रगतिवादी नग्नवादी और रतिवादी नाम से बदनाम है और यह तबेले की बला मेरे ही सिर आ पड़ेगी। संक्षेप में यही समझ लीजिये, कि यह शब्द साहित्यिक पत्रों वगैरह में खोलकर कहने लायक नही है; वैसे वकील लोग चाहें इस पर घंटो बहस न्यायालय में कर सकते है।

अब बचे दो शब्द 'जीना' और 'जीना'। एक रोमैंटिक से कवि-मित्र ने अपनी प्रिया की अटारी की सीढ़ियों के प्रति फरमाया है कि—

"हम तो मरना-जीना सीखे तेरे घर के जीने मे" मतलब इन कवि जी की भावुकता को क्या सराहिये, कि जहाँ प्रेयसी जी का पट बन्द मिला, ये मर गये; जहाँ जीने के द्वार खुले मिले तो 'कितनी बार पुकारा' लिखने लगे! खलील जिब्रान नामक गम्भीर सत-कवि ने अपने आपको Lif ist (जीवनवादी) कहा है। यह बहुत अच्छा 'वाद' है। इस जीवन के फंदे में हमारे कई मित्र फँसे है। 'जीवन-संगीत'; 'जीवन के गीत', 'जीवन-रागिणी', 'जीवन की झाँकी', 'जीवन के गान', 'जीवन या मरण?' आदि कई किताबो के नाम देखकर हमारे एक मसखरे दोस्त अपनी किताब का नाम 'G. I.' रखने जा रहे हैं। यह 'जी-जी-जी' पर भी मात नाम होगा।

मेरे समझ में नही आता, कि इन लेखक-कवि कलाकार इत्यादियों को इस 'जीवन' की इतनी फिक्र क्यों होती है? एक भी ससुर उनमें से 'बायलौजी' (जीवन-विज्ञान) पढ़ा हुआ नही। खुद के जीने की फिक्र भी ठीक से वे नही लेते - मगर सारी दुनिया के जीवन के अन्देशे में काजी जी दुबले हो रहे हैं। एक तरुण कवि जो हड्डियों की ठठरी मात्र

था, आंकर कहीं से उधार ली हुई पंक्तियां, भंग पीकर मेरे पास आकर सुनाने लगा—

'मेरे जीवन की रानी, मेरे जीवन में आओ !'

मुझसे कविता के विषय में इसलाह माँगने लगा। मैंने कहा—देखो मियाँ, तुम्हारे ये पिचके गाल, इस भरी जवानी में ये गढों में धँसी आँखें और यह साँस लेते ही बिहारी की नायिका की भाँति हिडोले सी उड़ने वाली छाती देखकर कौन सी रानी की नानी तुम्हारे जीवन के सहन के पोर्च के पास भी खड़ा रहना मंजूर करेगी ? उसने पूछा—मैं मुक्तछन्द में लिखूँ या पंत की तर्ज पर। मैंने जवाब दिया—लाल टमाटर और हरी सब्जियाँ खाया करो। कुछ कसरत भी करोगे तो बहतर होगा ?

वह बोला—"आप तो मजाक कर रहे हैं; मैं कह रहा था कि मेरी कविता में प्रेमवाद .. ।"

मैंने कहा—"वह सब बाद में देखा जायेगा। खाने मे अगर विटैमिन (जीवन-तत्व) अधिक होगा तो बदन मे खून बढेगा और तब तु-हारी कविता का यह रोना-कराहना आपमे-आप बन्द हो जायेगा।"

वह नाराज हो गया। बोला—"आप मेरे आँसुओं के मेघमल्लार की कीमत नही समझते। मेरे आँसू पर दुनिया हँसी का इन्द्रधनुष तानती है... ।"

मैंने कहा—'नीत्शे की बात 'याद रखो—Primun vivre, diendi philosopheri, पहिले जियो,—फिर फलासफी छेड़ते रहना।

'जिओ' और जीने दो !' जनतन्त्र का मूल मंत्र है, 'जीवो जीवस्य जीवनम्' फाशिवाद का। सच्चा जनतन्त्र प्रत्येक जीव की—चाहे वह क्षुद्रातिक्षुद्र क्यों न हो, वह अल्पसंख्यक क्यों न हो—उसकी महत्ता मानता है, उसका संरक्षण आवश्यक समझता है ? वह समाज के

निम्न से निम्न स्तर के व्यक्ति में भी महात्मा के बीज पाता है। फाशीवाद आदमी को जानवर समझता है या यन्त्र। एक मजाकिया मित्र R. S. S. के बडे खिलाफ हैं; क्योंकि वे बोले उसमें गुरुडम बहुत है। ऊँची श्रद्धा है। वह बोला यार, वे तो Are Asses—गधे की भाँति, भेड़ियाधसान मानते हैं। बड़ी सख्त बात कही. मगर कुछ सत्यांश तो है ही। फाशीवाद की सबसे बड़ी मुश्किल यह है' कि वह जीवन को, जो कि बहुमुखी विकास में विश्वास करता है, उसे एक दिशा में चलाना चाहता है। जीवन लीक-लीक कभी नही चलता। वह तो वन्य निर्झर को नक्शे की नदी की भाँति सीधे चलने पर बाध्य करता है। 'सायर' सिंह. सपूत' इस फौजी रेजिमेंटेशनको बर्दाश्त नही कर सकता। जीना 'नाज़ी' का उलटा है।

जीना है तो जीने भी दो! यही सूत्र सर्वोत्तम है। आप जीने का ठेका नहीं ले सकते। जीना तभी सम्भव है जब उसमें वैविध्य हो, वर्ना वह तो एक यान्त्रिक साँस लेने की क्रिया मात्र हो जायेगी।

ज़ीने के नीचे जिन्न रहते हैं, ऐसी अंग्रेज़ो की अंध धारणा है। रहते हो या न रहते हों, आजकल मकानों की कमी के दिनों में लोग ज़ीने की सीढ़ियो पर और नीचे भी सोने लगे हैं, यह सच है?

१९४६ }

सौ बरस जीओ

'जीवेम शरदः शतम् !' बड़ा सुन्दर वैदिक आशीर्वाद और महात्वाकांक्षा है।' सौ बरस जीओ ! ऋग्वेद, यजुर्वेद के साथ-साथ अथर्ववेद में भी कहा गया है—'दीर्घायुत्वाय शत शारदाय !' और शुक्रनीति में लिखा है—'शतमायुर्मनुष्याणाम् !' उसी प्रकार महाभारत का भी आदेश है—

शतयुर्वै पुरुषः।
शतं वर्षाणि जीवति।

पर मैं पूछता हूँ—क्यों जीये सौ वर्ष ? आजकल के युग में, जब एक आधी सदी में दो विश्वव्यापी महायुद्ध और दस-पचास क्रान्तियाँ घटित होती हों, तब एक सदी जी कर भी क्या होगा ? जब आस-पास की दुनिया का नक्शा और रंग ही बदलता जा रहा हो, तब मेरे बने न बने रहने का क्या मतलब है ? क्या प्राणीशास्त्रज्ञ इस दिशा में कोई हमारी सहायता कर सकते हैं ?

डाक्टर मारिस अर्नेस्ट नामक फ्रांसीसी प्राणीशास्त्रज्ञ ने बहुत खोज के बाद यह पता लगाया है, कि कोई भी आदमी ११३ से अधिक वर्षों तक जीवित रहा ही नहीं। कनाडा में पीरे जोबर्त नामक चमार इस उम्र तक जिन्दा रहा। छांदोग्योपनिषद् में और भागवत पुराण में भी साधारणतया 'षोडषंवर्षशतं जीवितं।' यानी ११६ वर्षों का आयुमान माना गया है। वैसे पुराणों में और किंवदंतियों में अमर पुरुषों के उल्लेख कितने ही हों, शार्खमैन और किंग आर्थर, हनुमान

और विक्रम की भाँति तीन सौ बरस से ज्यादा जीये हों; ऐतिहासिक उल्लेख कुछ दीर्घायुशाली व्यक्तियों के जो मिलते है, वे यो हैं—

(१) मिस पार (जन्म १४८३ ई०—मरण १६१५ ई०) १५२

(२) हेन्री जबकिन्न (जन्म १५०१ ई०—१६७० ई०) १६९

(३) जोजेफ सरिंगटन, बर्गेन, नार्वे (जन्म १६१२ ई०—मरण १७७१ ई०)१६०

(४) ड्रेकनबर्ग, डेनमार्क (जन्म १६२५ ई०—मरण १७७२ ई०) वय १४७

वैसे १२५, १३० और १३६ बरसों तक जीवित रहने वाले कई विदेशियों के उल्लेख मिलते है। 'आदमी मरता नही, वह खुद को मार लेता है!' सेनेका का यह वचन ठीक है। बुढ़ापा एक तरह की बीमारी है। उसे टाला जा सकता है। कायाकल्प या ययाति-पुरुरवा के चमत्कारी ढग पर नही, तो जैसे अन्य देशों में है, यौवन को अधिक काल तक टिका कर।

४ फरवरी, १९२६ को असोसियेटेड प्रेस ने रूस की एक खबर छापी थी, कि वहाँ का एक बुढ्डा किसान, इवन्स ट्रेटा १३८ वर्ष का होकर रोस्तोव में मरा। उसकी तीन बार शादी हुई। तीसरे विवाह के समय उसका वय १०० वर्ष था और उसकी सबसे बड़ी लड़की १०१ वर्ष की है। गत ११८ वर्षों में रूस में जितने युद्ध हुए उन सब में वह सैनिक बन कर गया था।

ब्रिटानिका विश्वकोश में चार और दीर्घायु व्यक्तियों के उदाहरण दिये गये हैं—

मार्गारेट पैटन—१३७ वर्ष
टॉमस डमे—१५४ वर्ष
जॉन रॉबिन—१७२ वर्ष
पीटर टॉर्टन—१८५ वर्ष

इस प्रकार मनुष्य की औसत दीर्घायु १०० से पौने दो सौ के बीच में सवा सौ वर्षों की मान सकते हैं। तभी गाँधी जैसा कालविजयी पुरुष सवा सौ वर्ष जीना चाहता था यदि वह जीवित रहने दिया जाता ..... !

परन्तु, महापुरुषों की बात और है। मैं तो मुझ-जैसे, आप-जैसे साधारण व्यक्ति की बात करता हूँ—हम और आप बहुत लम्बी उम्र तक रह कर करेंगे भी क्या ? यही न—'खा डबल रोटी, किलर्की कर, खुशी से फूल जा।' (अकबर), या पशुवत् जीवन बिताये, जैसे एल्डस हक्स्ले ने 'ब्रेव निव वर्ल्ड' में कहा है।

पशुओं से मुझे पुनः डाक्टर अर्नेस्ट के लेख की याद आ गई, उसमें पशुओं की आयु के सम्बन्ध में बहुत दिलचस्प आँकड़े हैं—

प्राणी	गर्भवास	उम्र
(१) कछुआ	—	२०० से ३०० वर्ष
(२) हाथी	२२ मास	१५० से २०० वर्ष
(३) उल्लू, तोता	—	५ से ७० वर्ष
(४) गिद्ध	—	० वर्ष
(५) बन्दर	६ मास	४० वर्ष
(६) रीछ	५ से ६ सप्ताह	४० वर्ष
(७) सेई	३॥ मास	४० वर्ष
(८) जिराफ	१५ मास	४० वर्ष
(९) ऊँट	११ से १३ मास	४० वर्ष
(१०) जेब्रा	,,	४० वर्ष
(११) गेंडा	,,	४० वर्ष
(१२) शेर, चीता	४ मास	४० वर्ष
(१३) घोड़ा	११ से १२ मास	१६ से ४० वर्ष
(१४) गाय, बैल	६ मास	१५ से ४० वर्ष
(१५) कौआ	—	२५ वर्ष

(१६) गधा	६ मास		२५ वर्ष
(१७) बकरी-भेड़	३ मास		१५ वर्ष
(१८) भैंस	१२ मास	१५ से	२५ वर्ष
(१६) कुत्ता	३ मास	१० से	१५ वर्ष
(२०) चूहा	२ मास	३ से	४ वर्ष
(२१) खरगोश	—	५ से	८ वर्ष
(२२) सूअर	६ मास		१० वर्ष

इनके सम्बन्ध में आगे वह अपने लेख में बताते हैं, कि ट्रिग के दुलभ प्राणीसंग्रह में एक कछुआ सवा छः मन का है. जो ३०० बरस पुराना माना जाता है। आकार में बड़े पशु अधिक काल तक टिकते हैं। जिनका आहर साग और माँस, दोनों का मिला हुआ होता है, वे पशु अधिक काल तक जीवित रहते है। शीत प्रदेश के प्राणी उष्ण प्रदेश से अधिक जीवित रहते है। मनुष्य जिन पशुओ को पालता है, उनका शत्रुओं—अकाल, वर्षा की कमी, रोग इत्यादि से अधिक संरक्षण होता है; अतः वे ज्यादा जीते हैं। ज्यादा भाग-दौड़ करने वाले प्राणी जल्दी मरते हैं। भारी-भरकम, कम हिलने वाले पशु दीर्घजीवी होते है। ऐसा मत जार्ज जीन नैटन नामक प्राणी-वैज्ञानिक का है।

कछुआ तो खैर ठीक है, कीचड़ या पानी में पड़ा रहे। हाथी भी जंगल में बसता रहे। पर आदमी तीन सौ बरस जीने वाला हो जाय तो उसकी क्या दशा हो जायगी, 'रिप वेन विकल' या शा के नाटक 'बैक टू मैथ्सेलाह' के नायक की भाँति उसकी भी दशा अवधूत-निरंजन हो जाय।

ज़रा पढ़िये कि दुनिया में एक घण्टे के भीतर क्या-क्या होता है और फिर सोचिये, कि सौ बरस जीने का मतलब है ऐसे ८,७६,००० घंटे बिताना। अब यह पढ़ कर आप जान लेंगे कि सौ बरस जीना वरदान-आशीर्वाद नहीं, शाप है! ये भी आँकड़े नौ बरस पुराने हैं—

केवल एक घण्टे के भीतर

संसार में एक घण्टे के भीतर—५४०० व्यक्ति पैदा होते हैं, ४६०० मरते हैं।

१,९३,००० अपराध किये जाते हैं, जिनमें से १,१७,००० जजों के समाने पहुँचते हैं।

५००० नई मोटरे बनकर कारखानो से निकलती है।

६।।। लाख मन आलू, २।। लाख मन तरकारी, १।। लाख मन माँस और मछली, ३० लाख अंडे और करीब ३ करोड रोटियाँ खाई जाती हैं।

२'७२,५०० मन शक्कर काम में लाई जाती है।

४९०५ मन तम्बाकू तैयार होता है। ३५,४२,५०० मन कोयला और १, ६०,००० बैरेल पेट्रोलियम, जिसका तिहाई पेट्रोल बन जाता है, निकाला जाता है।

५४,५०० मन कागज तैयार किया जाता है जिस पर करीब १७ लाख ९१ पत्रिकाएँ छपती है।

फिल्म और कैमरा वाले ४० मील लम्बी फिल्म का व्यवहार करते हैं।

१ अरब २० करोड़ पत्र और पार्सल सारे संसार में चक्कर लगाते है और १,१५,००० तार दिये जाते है।

पृथ्वी १,१०४ मील सूर्य के चारों ओर घूमती है, १८०० बार वज्रपात होता है, तथा ४,००,००० तारे टूट कर गिरते हैं।

१९४९ }

सूत्र

मणो वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः (गीता, ७)

'सूत्र' के सस्कृत में कई अर्थ हैं—कपास या रेशम का धागा, तार, तंतु या रेशा, जनेऊ, कठपुतली नचाने का आधार, छोटा नियम, परिभाषा या ऐसे छोटे-छोटे वाक्यो वाला ग्रथ जैसे बौधायन सूत्र या अपस्तभ सूत्र। न्याय शास्त्र में सूत्र की परिभाषा यों दी गई है—

स्वल्पाक्षरम सदिग्ध सारव द्विश्वतो मुखम् ।
अस्तो भमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदुः ॥

इस लेख का सूत्रपात् 'सूत्र' की शाब्दिक परिभाषा से यद्यपि किया है, फिर भी इस विषय पर लिखने के दो तीन निकट कारण हैं; एक तो पंत और बच्चन की दो किताबें निकली हैं—'खादी के फूल' और 'सूत की माला'; दूसरे सूत्रधार शब्द भी कुछ मन में तैर रहा था; तीसरे आस्ट्रेलियन राजनीतिज्ञ 'काटन' का पाकिस्तान से हैदराबाद दो बार बिला-परवाना भारतीय आकाश से उड्डान; चौथे परसों मेरे चरखे की अटेरन टूट जाना, जिस कारण से मैं अब अपना काता हुआ सूत लपेट नही पाता, और पाँचवे, 'सूता न कपास' कोरियों में लट्ठम-लट्ठ जैसा राजनीतिज्ञों में जब मै भविष्यकाल की आशंकाओं के विषय में अनावश्यक वाद-विवाद सुनता हूँ तब... ।

इत्यादि कारणों से 'सूत' के बारे में मैं लिखने बैठा हूँ। वैसे सुन रहा हूँ, कि कपड़े पर कन्ट्रोल फिर जारी हो रहा है, हो गया है; परन्तु इस 'काटन' पर कन्ट्रोल कब होगा ? सिडनी काटन एकदम हवाई

प्राणी जान पडता है, वह शायद समझता है कि भारत में विमानमार तोपें ही नहीं। वैसे डोमिनियन पार्लियामेण्ट में पटेल साहब ने आश्वासन दे दिया है कि निज़ाम के पास कोई विदेशी सरकार शस्त्र नही पहुँचाती ऐसा हमारा अनुमान है। परन्तु प्रश्न आज पहुँचाती है या नहीं, इसका न होकर बहुत पुरानी तैयारी का है, बीदर विमान-क्षेत्र का और भोपाल से जाने वाले 'स्पिरिट' कारखाने के एथिल अल्कोहल और गोआ के उद्धत सालाज़ार का और—परन्तु यह सब अतीत कथा अब व्यर्थ है; क्योंकि जब तक ये पंक्तियाँ छपेंगी, तब तक सिकन्दराबाद में भारतीय फौज पहुँच चुकी होगी। अब तो क़ासम रिजवी समझ जायगा कि उससे सूत में सूत धरनेवाला कोई मिला है, सेर को सवा सेर!

गाँधी-वध के पश्चात् आई हुई कविता की बाढ के बारे में निवेदन इतना ही है कि ये सब रचनाएँ गाँधी की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थीं क्या? इसके पहिले गाँधी जी पर कोई महाकाव्य लिखने की प्रेरणा हिन्दी के या अन्य कई कवियों को क्यों नही हुई? कई लोग तो गाँधी की मृत्यु के बाद गाँधी-प्रशंसक कवि, लेखक आदि बन गये हैं। ऐसे लोगों में मैं पंत या बच्चन को नहीं मानता। फिर भी कहूँगा कि कई और निरे ढोंगी लोगों की कमी नहीं है, जो कल तक गाँधी के शत्रु थे; जिन्होंने टोपियाँ बदलकर गाँधी-भक्ति की रामनामी मुहर लगा ली और जो सहसा 'विश्ववंद्य' गाँधी को श्रद्धांजलि देने लगे हैं। 'गाँधी जी की जय' मुँह से चिल्ला लेना आसान है। गाँधी के दिये चौदह रचनात्मक कार्यक्रमों में से किसी एक को भी ठीक तरह से पालन करना और बात है। कौमी एकता, अछूतोद्धार, ग्रामोद्योग और खादी, प्रान्तीय भाषा और राष्ट्र भाषा, नशाबंदी, बुनियादी तालीम, किसान मज़दूर—किसी भी एक मोर्चे पर थोड़ा डटकर काम करके देखिये। पता लगेगा कि सूत कितना उलझा हुआ है, गुत्थियाँ कितनी हैं और

इतनी सरलता से वह नही साफ होता, जितना कि हम मान लेते हैं। पब्लिक व्याख्यान दे देना सरल है, आचरण ज़रा कठिनाई से सूत की तरह पक्का और खरा उतरता है। व्याख्यान तो रुई धुनना मात्र है, रेशे उड़ेंगे ही। आचरण पूरी 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' है।

कई लोगों को हमने गाँधी मरण पर गला फाड़ फाड़कर चीखते और रुआसी ला-लाकर अपनी वृथा-भावुकता का परिचय देते हुए देखा है; आज गाधी-स्मारक मे चन्दा देते हुए वे आनाकानी करते हैं, अब उन्हे आर्थिक संकट याद आता है! तब तो गाँधी की भस्मी को जुलूस मे 'आगे-आगे' चलने की शर्म नहीं आई, अब गाँधी की बुराई करने में भी उन्हे शर्म नही आती। ऐसे लोगो की इस अभागे देश में कमी नहीं है, जहाँ गाँधी के हत्यारे भी 'अडर ग्राउण्ड' की सूरत में अभी तक छिपाये जा सकते हैं। गाँधी को गये सात महीने भी नही हुए, कि ग्रामोद्योग और ग्राम-केंद्रित अहिंसक शिक्षा के उस मसीहा के अनुयायी गण ट्रक्टर, बडे-बडे वनस्पति-घी के कारखाने और मिलिटरी यूनिवर्सिटियों की चर्चा करने लगे है। वाणी-स्वातत्र्य के उस सबसे बड़े उद्गाता के अनुयायी भाषणो-सभाओ पर बदी लगा रहे है और इस सब बड़े नाटक के सूत्रधार कोई और ही हैं, जिन्होने अरबों रुपया इनकम-टैक्स देने मे बचा लिया, जिनके विदेशी सहायक सितारे-पट्टियों वाले 'अकल शैम' हैं।

भारतीय दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करते समय कुछ सूत्रों को पढ़ने का अवसर मुझे भी मिला था। ब्रह्मसूत्रो में ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना कैसे की? इसके उत्तर मे शकराचार्य बतलाते हैं—पटवच्च। जैसे पट अपने आप खुलता जाता है। अब ज्यों-ज्यों राजनीतिक रंग, देश-विदेश में जहाँ पाये जा रहे, सब मुखौटे हट रहे है, चीजें साफ उभरती चली आ रही है। कौन किधर है, यह दिखाई देने लगा है। सब घटनाओं की कार्य-कारण-परम्परा का बराबर 'सूत्रण' होते जा

रहा है। ये पुराने जो कपड़े थे उनकी मृच्छकटिक के शब्दों में 'सूत्र-दरिद्रता' साफ झलकने लगी है। पर्दे तार-तार हो रहे हैं। फिर भी सूत्र रूप से बात को कहने वाले कम होते जा रहे है। व्याख्या करने वाले बहुत हैं। संक्षेप में सब सार कह देने वाले थोडे है। जैसे जुलाहा कबीर थे, जिन्होंने कहा—'सहज सहज सब कोई कहे, सहज न जाणे कोय!' जीवन से यह सूत जैसी सरलता या सहजता ही गायब होती जा रही है। आपको पग-पग पर शंकालु बनना पड़ रहा है। पता नहीं किस बात का क्या अर्थ हो, किस बात मे कौन-सा राज छिपा हो। गाँधी ने हमें सिखाया कि कोई राज नही है, सब चीजें साफ-साफ रखो—राजनीति छल कपट से नही चला करती; तब तो उसमें का 'नीति'–वाला पक्ष नष्ट ही हो जायगा। दो-ढाई हजार बरस पहिले महाभारत के शांति पर्व में (२९७। ३१ स्थल पर) कहा गया था—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं प्रब्रवीमि। न मनुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' 'मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नही होता।' उसी महाभारत में चण्डाल को भी शोभन कहा गया—चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात! शोभनम्!

मालुंक्यपुत्र को विश्व-दर्शन जानने की बड़ी जिज्ञासा थी। एक बार तर्क कर-कर के वह हार गया और पूछा—'भन्ते! यदि आपको कुछ बातें न आती हो तो आप कबूल करो। परन्तु टालो मत।' बुद्ध ने शाँति पूर्वक उत्तर दिया—'जब किसी आदमी को विष-लिप्त बाण लगा हो, तब उनके रिश्तेदार अगर कोई बाण निकालने वाले वैद्य लायें'; और बाणविद्ध आदमी यह पूछता बैठे कि—"जब तक तीर मारने वाला कौन है, किस जाति का है उसका नाम गोत्र क्या है, यह जब तक हमें पता नहीं चलेगा, तब तक मैं बाण नहीं निकालने दूँगा" तो तब तक तो वह घायल आदमी मर जायगा। इसी तरह विश्व की चिन्ता में न पड़ कर दुःख, चिन्ता, हिंसा आदि प्रश्नों का विचार करते हुए बंध-मुक्त होने का विचार करना चाहिये।

इस प्रकार हमारी राजनीति तो हमारी पोशाक से शुरू होती है। गाँधी अनुयायी बात नही बनाता, कातता है। उसे सूत कातने में जो एकाग्रता, जो धैर्य और जो मन-शाँति आवश्यक होती है; उससे पता चलता है, कि वह गाँधी के मार्ग पर चलने मे कहाँ तक समर्थ है। अभी गत राष्ट्रीय सप्ताह में और आगे आने वाले गाँधी-पक्ष में, इन वाचा वीरों की, गाँधी जी को लेकर सार्वजनिक सभाओं में दो-दो घंटा माइक्रोफोन की घिग्घी बँधाने वालो की पोल खुल जाया करती है। १५ अगस्त को, उज्जैन में गाँधी जी की अस्थियाँ जिस कॉलेज हॉल में रखी गई थी—वहाँ एक घंटा कताई में मै भी शामिल हुआ था। मैं नियमित कातने वाला आदमी नही; परन्तु दस साल से खादी पहनता हूँ और उसके पीछे के सूत्र को समझने का प्रयत्न करता हूँ, इसलिए यह देखकर मुझे बहुत दुख हुआ, कि एक लाख बस्ती वाले प्राचीन अवन्ती नगर में से दस आदमी भी उस कताई में शामिल नही थे और विद्यार्थी तो दो-ही तीन थे ! इसी तरह बात का सूत आप पकड़ लेंगे तो समझ जायेंगे, कि मैं क्या कहना चाहता हूँ।

———

तन और मन

'इस तन धन की कौन बड़ाई।...'

साय-प्रार्थना में कबीर का यह गाना बहुत बार मैंने सुना था पर व्यवहारविद् कहते है—'तन्दुरुस्ती हजार नियामत।' पर मुझे अपने तन की तब तक फिक्र नही होती, जब तक उसमें कोई रोग का चोर न आ जाय या अग्निमान्द्य से सिरदर्द या बुखार जैसी कोई खराबी न पैदा हो जाये। स्वास्थ्य सम्बन्धी शिकायत मुझे बहुत कम होती है, यानी शरीर की ओर से मानों मै बे-फिक्र हूँ।

और मन ? वह दिन रात भटकता रहता है। बिरले ही योगी होंगे जिन्होंने उसे काबू में रखा हो। नही तो कही वह ऐसे मानने वाला है। पारा है, पारा !

मिट्टी और पारे का जोड करतार ने खूब बनाया है। वैसे विधाता भी किसी साइंस-दाँसे कम नही है।

शक्ति का निर्माण

आहारशास्त्री ने बतलाया, कि शरीर में अन्न से शक्ति का निर्माण होता है, यानी मैटर मे इनर्जी हर-घडी, हर-मिनट बनती रहती है। गरम खून वाले जानवरों यानी पक्षियों और स्तनपायी प्राणियों में शक्ति-निर्माण वजन पर या आकार-प्रकार पर नहीं, वरन् सतह पर अवलम्बित रहता है। मसलन दो कुत्ते हैं, जिनमें से एक दूसरे से दुगुना लम्बा-चौड़ा और ऊँचा है। वजन में चाहे वह पहिले कुत्ते से अठगुना हो, मगर आहार वह पहिले कुत्ते से चौगुना ही ज्यादह लेगा, चूँकि

उसकी सतह की लम्बाई-चौड़ाई (एरिया) चौगुनी है। अगर एक टन वजन का एक मोटा-ताजा घोड़ा ले, और उसी वजन के आदमी (जो करीब-करीब १३ होंगे)' उसी वजन के फाखता या चिड़ियाँ (जो करीब ५०० होंगी) और उसी वजन के चूहे (जो ५५,०७० होंगे) ले ले, तो उनका सम्मिलित आहार उनकी सतह के अनुसार ही होगा। घोडे से आदमी को ३-७ गुनी अधिक शक्ति, फाखता को ८ गुनी, और चूहों को २५ गुनी शक्ति चाहिये, जब कि चारों प्राणी पूरी तरह आराम की हालत में हों। यह नियम ठण्डे खून वाले जानवर यथा मछली आदि के लिए लागू नहीं होता।

आहार का मन पर बहुत बड़ा असर होता है। अंग्रेज़ी मसल है, कि 'ए मैन इज ह्वाट ही ईट्स' (मनुष्य के स्वभाव का निर्माण आहार के अनुरूप ही होता है)। नेपोलियन कहा करता था मेरी सेना पेट के सहारे चलती है।

ग्रन्थियों का मन पर प्रभाव

मगर मनोविज्ञान का कहना है, कि दिमाग और रीढ की हड्डी और ग्रान्थियों (ग्लेंड्स) का आदमी के मन पर बहुत अधिक असर होता है। मछली का दिमाग चपटा होता है, जब कि आदमी का उभरा हुआ। अकेले दिमाग में ही १४,७००,०००,००० शिराएँ है, और एक-एक शिरा $\frac{१}{१००}$ इंच मोटी होती है। और ·०००५ सेकिण्ड के अन्दर किसी सन्देश को दिमाग तक ले जाकर उत्तर ले आती है; और हम विचार और आचार में मामञ्जस्य नहीं है, यही रोना लिये बैठे हैं ? ग्रान्थियों का तो किस्सा ही और है। $\frac{१}{२}$ औंस वजन की छोटी सी पिटीशुअरी ग्रान्थि में यह ताकत है, कि आदमी की ऊँचाई तीन फुट से ९ फुट बना दे। उनमें से सूक्ष्म द्रव-पदार्थ बराबर निकलते रहते हैं जो हार्मोन कहलाते है। आदमी की यौन इच्छाएँ और उसका उत्साहित या निरुत्साहित रहना इन्हीं के बेलेंस पर निर्भर है। अगर

'हार्मोन' कम हो जायें, तो खैरियत नहीं है। मेरा खयाल है, कि सम्पादक के पास से लेख कविता स-धन्यवाद वापिस आने पर, नये लेखक के एष्ट्रोजी-नस हार्मोन निश्चित रूप से कम हो जाते होंगे। जेम्स का सिद्धन्त है, कि चेहरा और आँखें रुँआसी होने पर नाक और आँख के बीच की मेंअश्रु-ग्रान्थि पर दबाव पडता है, इस वजह से हम में दुःख, करुणा या उद्वेग होता है। हिन्दी के करुणावादी कवियों से यह कहा जाय तो ?

शरीर की विचित्रता

जीवशास्त्रियो से तो और भी अजीब बाते सुनी। वे कहने लगे क्या तन-मन की बात करते हो ? आदमी अपने शरीर से चाहे जो कमाल कर सकता है। यह शरीर २०६ हड्डियो और ७५० माँस पेशियो से परिचालित है, और साधारणतया १२६ पौण्ड के शरीर में ४०,६९४ ग्राम पानी, ११,३५७ ग्राम कोयला, १, ६९४ ग्राम हाइड्रोजन, १,६२६ ग्राम नेत्रजन, ३,६८२ ग्राम प्राण-वायु और २,७१६ ग्राम राख के जैसे पदार्थ है; ६० वर्ष की आयु में यह शरीर ५०८,०००,००० श्वास लेगा; और वह अधिक मे अधिक २६०० सेंटिग्रेड तापमान में व० से नीचे ७५० सेंटिग्रेड तक बर्फ में जिन्दा रह सकता है। अधिक से अधिक ८४ घण्टे आदमी नींद के साथ युद्ध करके विना सोये रह सकता है, वैसे उन्निद्ररोगी तो बहुत से होते ही हैं। टेरेस मैक्स्विनी ने ७५ दिवस उपवास किया और वह मर गया। गांधी जी ने तीन सप्ताह। इसी शरीर में दो लाख से अधिक चर्मछिद्र है। हाथी के दिमाग का वजन चाहे ८ पौण्ड (यानी ४ सेर) हो आदमी का तो मुश्किल से ढाई तीन पाउण्ड होता है। सबसे वजनदार दिमाग था तुर्गनेव का (४ पौण्ड), ट्राटस्की का भी तीन पौण्ड से ऊपर था। यदि मनुष्य के शरीर की सब शिराओ को जोड़ कर लम्बी शृङ्खला बनाई जाय तो वह ३५०,००० मील यानी दुनिया की गोलाई से १४ गुणा

हो जायेगी। इस प्रकार के मनुष्य-शरीर से, जिसमें से सात साबुन की टिकिया बनाने योग्य चरबी, तीन चौथाई इंच लम्बी दो कील बनाने लायक लोहा, तीन कप काफी बनाने लायक शक्कर, ६००० पेंसिल बनाने लायक सीसा और २,२०० माचिस की सीकों के सिर के लिए फास्फारस निकल सकता है, बहुत से कमाल कर दिखाये हैं। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी से ऊँचे पर उसने हवाई जहाज चलाये हैं; १६३५ में एक पैदल सिपाही ने बताया था, कि वह अस्सी गज दूरी पर की धीमी बात-चीत सुन सकता है, आदमी की दृष्टि फी घण्टा २०० मील चलने वाली वस्तु को १०० गज की दूरी पर से ही साफ तौर से देख सकती है और १,३०,००० सैकिण्ड का अन्तर कान समझ सकते हैं, उससे अधिक नहीं। बहुत से आदमी रंग सुन या सूँघ सकते हैं; और स्त्रियों से पुरुषों की सूँघने की शक्ति अधिक होती है।

नश्वरता

यह शरीर नश्वर है; यानी वह कभी-न-कभी मरता ही है। ३० में १ अंग्रेज प्राकृतिक तौर से मरता है, प्रतिशत बुढ़ापे से और बाकी हृदय और रक्त-प्रवाह सम्बन्धी रोगों से मरते हैं। कैंसर के कारण ७ में १, क्षय और इन्फ्लुएञ्जा के कारण ६ में १, निमोनिया से १६ में २ और पेट की खराबी के कारण १६ में १ की मृत्यु हुआ करती है। आत्महत्या, खून, अपघात, बिजली, मशीन आदि के हादसे, शेर-साँप आदि के हमले, भूकम्प और विष-प्रयोग—इन सब मृत्यु को समीप लाने वाले 'यमराज-सहोदरों' में युद्ध भी मुख्य है। १८५० ई० से लगाकर १८६७ ई० सन् तक, यानी सिर्फ ४७ वर्षों में २५ लाख आदमी युद्ध में मरे। गत महायुद्ध में १ करोड़ मारे गये, ६३ लाख बुरी तरह घायल हुए, १ करोड़ ४० लाख कम हलके जख्म हुए। और अभी जो चल रहा है वह युद्ध-विज्ञान और विषूचिका से सहायता प्राप्त कर

चलने वाला विराट् नरमेध, महाभारत—पता नहीं कितने अंक लायेगा ? शून्य पर शून्य चढ़ेंगे।

शायद इसी से तत्वज्ञानी कहते हैं—'इस तन-धन की कौन बड़ाई ?...

वर्डस्वर्थ की तरह हम कहें—आदमी ने आदमी को क्या बना दिया ? आह !'

धुआँ

'जहाँ धुआँ है, वहाँ आग निश्चित होगी ही', तर्कशास्त्र का यह सूत्र शायद डाक्टर जॉनसन के नौकर को विशेष रूप से मालूम था, जिसने अपने वृहत्काय विद्वान् स्वामी को धुआँ उगलते हुए देखकर उस पर बाल्टी भर पानी उड़ेलने का प्रयास किया। 'माई मास्टर इज आन फायर!' (मेरे स्वामी जल रहे है) यह उसका उद्‌गार उपर्युक्त तर्क-प्रमेय की विसंगति का सुन्दर उदाहरण है। सिगरेट-फूँक पन्थियों के नथुनों-होठों से धुआँ दिवारात्रि निकलता रहने पर भी, उनके मुखान्तराल में कही भी अग्नि का अस्तित्व नही होता, यह महान् आश्चर्य की बात है। इजन के भोंपू या मिल की चिमनियो से बराबर धुआँ निकलता रहता है, परन्तु वह उन यन्त्रों के जीवित रहने का सबूत, श्वासमात्र होता है। धुएँ के पीछे आग का रहना एक ऐसी कार्य कारण परम्परा है जो अविच्छिन्न और अतर्क्य है। मैं उसे जान बूझकर तर्कातीत कह रहा हूँ; क्योंकि ह्यूम जैसे संशयवादी को भी इस कथन में गुंजाइश मिल सकती है।

बहरहाल, बम्बई की ही दो घटनाएँ लें, एक कुछ अंशों में मानव-निर्मित और दूसरी पंचभूतों में से एक प्रलयंकारी तत्व अग्नि द्वारा प्राकृतिक रूप से घटित है। मेरा तात्पर्य ९ अगस्त, '४२ के बाद की घटनाओं से और १४ अप्रैल '४४ वाले मशीदबन्दर के हादसे से है। प्रथम घटना की जिम्मेदारी के बारे में काफी मतभेद है। काँग्रेस का आन्दोलन नहीं था, अतः जनता के अवरुद्ध प्रक्षोभ की आग में नौकर-

शाही ने दमन का तेल डाला, यह कम्यूनिस्ट और उनके पक्षों की राय है। जवाहरलाल उस जिम्मेदारी को स्वयं परलेना चाहते है, गाँधी जी अहिंसा धर्म के नाते उसे निज पर नहीं लेते, और टाटेनहैम सारी जिम्मेदारी काँग्रेस के मत्थे मढ़ना चाहते थे। दो हाथ से जब ताली बजती है तब एक हाथ का दूसरे हाथ पर ताली सम्बन्धी जिम्मेदारी धकेलने जैसी यह बात है। अंशतः जिम्मेदारी हम सब पर है, यानी उन पर भी, जिन्होंने अगस्त की आग में भाग नही लिया। जब धुआँ बहुत ज़ोरों से उठता है, मान लीजिये पूरा घास का पर्वत या कपास की मण्डी जल उठी है, तब पहली चिनगारी कहाँ से आई थी, इसकी चर्चा इसलिए अनावश्यक है, कि लाख अन्वेषण करें—खुदबी की मदद से भी उस तक हम नहीं पहुँच सकते। आग का धर्म है जलना-जलाना। जलने का काम धर्म है जलाई हुई वस्तु को कार्बन में परिणत करना, यानी धूम्र और कोयले में बदलना। एक निर्धूम दीप-शिखा की बात कविजन करते हैं, परन्तु धुआँ अदृश्य होने मात्र से उसका अभाव वैज्ञानिक नही मान सकते।

९ अगस्तोत्तर आग-धुआँ छोड़ें, ३ अप्रैल वाले हादसे को लें। सरकारी रिपोर्ट भी छप चुकी है और नुकसान वालों को मोआवजा मिलने पर भी यह शिकायत है, कि वे नुकसान में रहे; क्योंकि उनमें से कई व्यापारियों ने व्यापार अनाज-कपड़ा आदि संग्रह कर रखा था और यह बात भला वे सरकार से कैसे कहे ?—फिर भी आग बहुत जोरों की रही यह बात निस्संशय है। बोरीबन्दर के पीछे धुएँ के बादल उठ रहे हैं यह फोटो जब मैंने 'लॉग' ४४' में देखा—मुझे लगा मानो मैं रूसियों की दग्ध-भू नीति-स्वरूप जलाई खारकोव या बेलोरशिया की सामूहिक खेती ही के दृश्य देख रहा हूँ। धुआँ-धुआँ सब ओर होने पर भी वे बहादुर रूसी अपनी दृष्टि को बराबर साफ रखते रहे; यह नहीं हुआ कि उनमें से किसी किशोरलाल मश्रूवाला ने पहिले छोटे पुल

उड़ाने की अनुमति दी और बाद में अपनी गलत-फहमी का पत्रक निकाला।

एक और वचन है—चिरकाल तक धुएं से भरे रहने की अपेक्षा एक क्षण ज्वलित होना श्रेयस्कर है। अब श्रेय क्या? यह तो बात दार्शनिकों की चिन्ता का विषय है—परन्तु कभी-कभी धुएँ की भी जरूरत होती ही है (जैसे काजल बनाने में, या उपलों की आग में, या आधुनिक युद्ध तन्त्र में, 'स्मोक-स्क्रीन' फैलाने में) क्षण भर जलकर मिट जाना पतंग का धर्म है, परन्तु रात भर जलने वाला दीपक इसी कारण कम हो जाता है, यह कहा नहीं जा सकता। इसी कारण संस्कृत में धुएँ को अग्नि-बाहु कहा जाता है।

परन्तु इस सब महाधूम से अधिक मनोरंजक मुझे अपने तमाखू-प्रिय मित्रों का मुख धूम जान पडता है। मैं कभी सिगरेट नहीं पीता, अतः मेरे लिए यह कम विचित्र बात नहीं है कि आदमी मुंह में एक कागज की नली दबाये और क्षण-क्षण बराबर नाक और ओष्ठों से नीले, पतले, धुएँ को प्रवाहित करता रहे और इस क्रिया में ब्रह्मानन्द की अनुभूति पाये। विशेषतः यह मौखिक धूम्र-रति फौजी किस्म के मानवों में अत्यधिक रूप से पाई जाती है। कामरेड किस्म के बन्धु-गण भी इस क्रिया में विशेष निरत पाये गये हैं। वे धुआँधार धुआँ मुँह में भरकर उगलते चलते हैं और इसे आजकल सभ्यता का एक विशेष लक्षण माना जाता है। एक प्रकार से संस्कृति धूम्र-युग से गुजर रही है।

साहित्य क्षेत्र में भी इस धुएँ की धूम कम नहीं है। 'धूम धुंआरे-काजल-कारे...कजरारे बादल' की चर्चा पन्त जी ने की है। 'अगरु-धूमसी' की उपमा निराला ने दी है और भी कई धुआँवादी पंक्तियाँ मिल जायेंगी। एक प्रकार से कविता में छायावाद धुआँवाद ही है। जब कोई भी लेखक अथवा आलोचक अपनी कल्पनाओं को अथवा विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाता और शब्दजाल में खोता-सा दिखाई देता है, तब हम उसे धुआं फैलाने वाला ही कहें। अग्नि-तत्व के अभाव

में, हमारा साहित्य-क्षेत्र धूम्रायित अधिक होता जा रहा है।

राजनीति में, साहित्य में, समाज के हर क्षेत्र में एक प्रकार की अस्पष्टता छाई हुई है। धुआँ यह जो सबेरे से शाम तक मिल की चिमनी से उठता और आकाश में अदृश्य होता, विलीयमान होता सा दिखाई देता है, इसके पीछे भी बड़ा रहस्य है। करोड़ों का श्रम, करोड़ों का मुनाफा। एक दल है जो श्रम के इस अतिरिक्त मूल्य को टाल देना चाहता है। फैसिस्ट इटली में जैसे 'सरकारी फिनामफर' पाले जाते थे, वैसे ही उस दल के लोग अर्थ-विग्रह के, वर्ग-संघर्ष के इस अँगारे से सत्य को आँखों से ओझल करने के लिए शब्दों का धूम्रजाल फैलाते रहते हैं, कि शोषण केवल कल्पना है, मन का मायाजाल है। सत्य कभी छिप नहीं सकता—धुआँ आखिर कब तक टिकेगा? धुएँ से हवा तेज होती है और ज्यों-ज्यों हवा साफ होती जायेगी, धुआँ मिटता चला जायेगा।

आजकल बहुत से धुएँ जैसे शब्द या मिथ्या-धारणाएँ जो हमारी स्वतन्त्र-मेधा को ग्रसित किये हुए हैं, उनमें से एक है धर्म या जाति। सचमुच अगर समाज में जाकर देखें तो धर्म को मूल—खालिस रूप में पालने वाले सौ में से एक भी मिलना कठिन है। फिर भी धर्म वाद बन गया है, जाति साम्प्रदायिकता बन गई है। खुदा आदमी की राह में रोड़ा बन रहा है। धर्म की इतनी बुरी हालत आज हमी ने अपने हाथों की है। धर्म की मूलतः अभिधा थी प्रकृति। अब वह हो गयी है विकृति। ऐसा धर्म किस काम का जो धुआँ बनकर हमारी दृष्टि को ही, संकुचित, अदूरदर्शी और संकीर्ण बना दे? धर्म किसी समय में धारण करने वाला था, आज तो वही मजेदार स्वाँग धारण कर हमारे सामने आता है। उसका सबसे नया स्वाँग राजनीतिक है; परन्तु सभी विकृतियों के समान यह भी अधिक काल तक टिकने वाली नहीं है। धुएँ के बादल हटेंगे और प्रकाश आकर रहेगा।

मैदान की राम कहानी

एक मैदान अपनी कहानी कह रहा है। तीन-तीन सौ गज उसकी लम्बाई चौड़ाई है। एक तरफ़ जरा फासले पर सराय है, दूसरी ओर कुछ अन्तर पर रेलवे स्टेशन। यह दूब से ढँका जमीन का चौरस टुकड़ा अभीतक किसी खास काम से किराये पर या मकानात बनाने के लिए, या सिनेमाघर नही तो कम से कम डाकबँगला या युद्धकालीन सिपाहियों का 'कैण्टीन' बनाने के लिए नही दिया गया है। यह केवल जनता के लिए, जनता द्वारा 'रिज़र्व्ड', जनता से ही रक्षित-उपयोजित जमीन है। मानो ज़मीन क्या है, प्रजातन्त्रवाद है! सुनिये मैदान क्या कहता है—

'चार साल पहले, हिन्दुओं के बड़े नेता स्वातन्त्र्यवीर सावरकर इस नगर में आये थे। शानदार स्वागत हुआ था। बग्गी फूलों से लद गई थी। हर चौराहे पर फूलमालाएं डाली जातीं। जुलूस को पूरा होने में पाँच घण्टे लग गये। तब मेरी ही छाती पर बड़ा भारी मण्डप डाला गया था। दानवीर श्रीमान् रायसाहबजी आदि कई नगर-श्रेष्ठियों ने तथा वकीलों ने और राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक-सङ्घ के स्वयं-सेवकों ने बहुत ही उत्तम प्रबन्ध किया था। ध्वनि-निक्षेपक यन्त्र और बिजली की बहुत अच्छी व्यवस्था थी। स्वागताध्यक्ष का भाषण हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया, कि जनता मुर्दा है, उसमें उत्साह नहीं है, उसमें अतीत-गौरव के प्रति अभिमान नहीं है, इत्यादि-इत्यादि। श्रोतागण खूब जुटे थे। अधिकांश हिन्दू थे। पर कुछ पारसी, कुछ बोहरे, कुछ बिना जाति विशेष के भी लोग एकत्र हो गये थे। सावरकरजी के ऐसे-ऐसे

गर्जनापूर्ण, आवेशपूर्ण, नाट्यात्मक भाषण हुए, कि क्या कहना! उन्होंने एक ही सन्देश दिया, कि सेना में हिन्दुओं को जाना चाहिये, शस्त्र-विद्या सीखनी चाहियें, इससे जनता में वीरता बढ़ेगी: अहिंसा व्यर्थ है इत्यादि-इत्यादि। बडी तालियाँ पिटी। बडे नारे लगे। बड़ा हङ्गामा रहा। दो दिन तक ऐसा जान पड़ा, कि बस भूकम्प अब होने को ही है और हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित हो ही जायगी।

'पर कर्म हमारे, कि तीसरे दिन मैदान फिर खाली हो गया। वही दूब, वही इक्के-दुक्के कुत्ते या शाम को घूमने के शौकीन कुछ बाबू लोग। वही पास का चुङ्गी-नाका बराबर काम करता रहा, पडौस के थियेटर में जरा भी कमी नहीं हुई। मैं सोचता था, कि इतने बडे हिन्दू-हुतात्मा के वीर-वचनों का थोड़ा-बहुत असर पड़कर शायद हिन्दू चुङ्गीवाला हिन्दू-प्रवासियों के साथ कुछ रियायत बरतने लग गया हो, या हिन्दू (मारवाड़ी) व्यापारी ने हिन्दू ग्राहकों के लिए कुछ भाव घटाकर मुनाफा कम कर दिया हो, या थियेटर के हिन्दू मालिक ने हिन्दू दर्शकों के लिए टिकट के दाम शायद कुछ कम कर दिये हों। पर साहब, दुनिया है, कि लेक्चर का असर उस पर कुछ नहीं हुआ, वही रफ्तार बेढङ्गी। मैं समझता था, कि खैर चुङ्गी, थियेटर, स्टेशन तो दूर है, पर मेरे ही अहाते में आकर चने बेचने वाला, खोंचावाला, या चाय बेचनेवाला हिन्दू शायद कुछ हिन्दुओं के प्रति इस पवित्र भावनामयी भूमि के वातावरण में साँस लेकर, दिल पिघलकर नरम हो गया हो— पर कुछ नहीं, वे तो अपना काम ज्यों-का-त्यों चलाये जा रहे थे। महान् आश्चर्य—वही वकील साहब गुप्ताजी अपने मुस्लिम मजिस्ट्रेट बहादुर को चायपार्टी दे रहे थे, सेठजी गोरी कम्पनियों से सौदे पटा रहे थे और 'हिन्दुत्व' बेचारा सावरकरजी के मुखारविन्द से निकलकर किसी हृदय में बैठने से पहले ही हवा में ठिठुरकर बर्फ सा जम गया था।

एक साल बाद फिर हमारे वक्षःस्थल पर एक तहलका मचा।

लोग पैगम्बर साहब का या हुसेन का जलसा मनाने जा रहे थे। वही माइक्रोफोन वाले, बिजली की फिटिङ्ग वाले आये। इस बार शामियाने के खम्भों पर बजाय भगवे के हरा कपड़ा था, झण्डा शायद कोई दूसरा था। वैसे ही पानी पिलाने वाले स्वयंसेवक थे। वैसा ही ऊँचा व्यासपीठ था। वैसा ही सम्मिश्र श्रोता-समुदाय था—शायद अधिकांश मुसलिम थे। वैसे ही स्वागत-कारिणी में नवाबजादा, खानबहादुर, अमीर-उमराव, वकील-बैरिस्टर, हकीम-काजी, तुलबा और 'यतीमखाने' वाले सब शामिल थे। बड़े-बडे धुरन्धर वक्ता, बड़े-बड़े मुस्लिम नेता शायद जिन्ना थे या नवाब नूरुद्दीन थे या और कोई आये थे। वैसा ही ठाठ का जुलूस निकला था। खूब फूलों से कार सजी थी। खूब भीड़ दोनों ओर रास्तों के जमी थी और फिर शाम से रात को उसी 'पैटर्न' का जलसा हुआ। बड़ी गरमा-गरम, मसालेदार, लच्छेदार, विद्वत्तापूर्ण, ओजस्वी, लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ हुई। जो कोई भी मुसलिम नेता अध्यक्ष थे, उन्होंने पैगाम दिया—हमें पाकिस्तान मिलना चाहिये। हमारी माँगे इससे कम कुछ नहीं हो सकतीं। हमारी पुरानी तवारीख, उस के एकसे एक बढकर आला दरजे के आकिल और आगा, सोचनेवाले और लड़नेवाले, बादशाह और फकीर—हमें उन सब पर नाज है। इत्यादि-इत्यादि। स्वागताध्यक्ष ने दबी जबान से 'सरकार-आलिया' के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की और उन्हे ऐसा मौका दिया, कि वे अपने दिली जजबात का इजहार कर सकें। खाकसारों ने सलामी दी। मुसलमानों ने आसमान में फहराते हुए हरे झण्डे के पश्चिम भाग के हिलाल को भक्तिपूर्वक निहारा। दो दिन खूब चहल-पहल रही। बड़ा जोशखरोश। जोरों का जशन रहा।

'और, नेता जैसे आये वैसे चले गये। मुसलिम बिरादर का मुसलिम बिरादर से सलूक वैसा ही रहा। ताँगे वाला बसीर सैयद साहब की घर की सवारियों के बारे में वही झगड़ा करता रहा; कान्स्टे-

बल करीम ने हबीब की बिना लाइट की साइकल पकड़ ली; टिकट-चेकर अब्दुल्ला ने महमूद साहब से डबल चार्ज रखवा ही लिया। आप कहेंगे यह तो साहब 'ड्यूटी' है, और फर्ज को फर्जी नहीं बनाया जा सकता। पर फर्जी नहीं प्यादे ही लीजिए—बोहरों ने अपने मुनाफे में कोई कमी नहीं की। पठान ने अपने कर्ज के ब्याज की वसूली में कसर न बचा रखी, ईरानी ने बेकरी में बेईमानी कम न की। ये छोटे-मोटे मामले हुए। बड़े पैमाने पर चावलों के चुपके-चुपके सौदे हुए; कपड़ा चुरा-चुरा कर बेचा गया; मिलिटरी के कंट्रैक्टों में काफी कमीशन लूटा गया—और इन सब जुर्मों के दोनों ही शिकार थे—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान !...

'फिर साहब एक साल बाद हमारी ही हस्ती पर मजदूर काँग्रेस भी हुई। रूस लड़ाई में मुब्तिला हो गया था और जङ्ग रूस के लिए जन-युद्ध बन चुका था। मजदूरों को खूब महँगाई मिल रही थी और वे खुशहाल थे, अब की वही ठाठ हुए —भगवे या हरे रंग के बजाय लाल रंग की सजावट हुई। लाली मेरे-लाल की, जित देखूँ तित लाल ! वही माइक्रोफोन-लाउडस्पीकर, वही बिजली की जगमगाहट। बजाय आर० एस० एस० या खाकसार के 'रेड गार्डस' स्वयंसेवक थे। कोई बड़े-भारी मजदूर-नेता अध्यक्ष बनकर तशरीफ लाये थे। बड़ा भारी जलूस निकला था। उस शहर की तमाम मिलों के और अड़ोस-पड़ोस के मजदूर जमा हो गये थे। बड़े फूल, बड़े नारे, बड़ी चीख-पुकार रही। एक कामरेड का तो गला ही भर्राया सा हो गया। दो-तीन दिन तक सोवियत रूस, साथी स्टालिन इत्यादि प्रिय शब्दों का विष्णुसहस्रनाम सा पाठ हुआ। बहुत से प्रस्ताव हुए। मजदूरों का नेता मजदूर हो या बाबू हो इस पर बहस हुई; काँग्रेस पूरी फासिस्ट है या आधी फासिस्ट है या बिल्कुल फासिस्ट नहीं है, इस पर बहस हुई; मजदूर नेता ज्यादा बीड़ी-सिगरेट पीते हैं यह अच्छा है या बुरा इस पर बहस हुई; यह

पूँजीवादी-साम्राज्यवाद के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रवाद के केन्द्रीकरण की आत्मनाशवादी के अन्त का आरम्भ हो रहा है या द्वन्द्वमूलक भौतिकवाद के समाजवादी प्रजातन्त्रवाद के रायवादी राष्ट्रीय युद्धवाद के आरम्भ का अन्त है या ट्राट्स्कीवादी अराजकवाद के चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीयवादी बोल्शेविकवाद का आरम्भिक अन्त या अन्तिम आरम्भ है, इस गम्भीर विषय पर आइस्टीन की सापेक्षतावादी तर्क-प्रणाली से विचार-विनिमय होकर युद्ध के मूलभूत स्वरूप को परखने की कोशिश की गई; अन्त में सब मोर्चों पर एक साथ लडा जाय या एक-एक मोर्चे पर सबके साथ लड़ा जाए इस बारे में भी काफी वाद-विवाद हुआ। श्रमजीवी खूब उपस्थित थे। दो दिन बड़ा ही हुड़दङ्ग रहा। खूब नाद-विवाद, गूँज-अनुगूज-प्रतिगूँज, भाषण-अभिभाषण और प्रतिभाषण हुए। स्वागताध्यक्ष ने मजदूर आन्दोलन का इतिहास और वर्तमान कमजोरियाँ बतलायी। इस समय युद्ध-प्रयत्न के लिए हडताल न करना कैसा लाभप्रद है यह सिद्ध किया। अध्यक्ष ने दुनिया के मजदूरों को एक होने का सन्देश देकर रूस, चीन इत्यादि देशों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया, और अन्त में घासलेट और गेहूँ के राशनिङ्ग में जनता को कैसे कटिबद्ध और उद्यत होना चाहिए इस विषय में जोरदार अपील की। खूब तालियाँ बजी और खूब नारे दुहराये गये।

'इसके बाद फिर वही सबेरे की मिल की सीटी और वही 'ओवर टाइम'—वही शाम की सीटी। न काम के घण्टे कम हुए, न आदमियों का कमाने का लालच। न 'वादों' के जङ्गल से कोई शिकार मिला, न मजदूर लामजहब हैं और श्रम ही उनका परमात्मा है, यह कुछ उनके दिमागों में घुस पाया। नेता आये, गये। मिलें चलती रहीं। मजदूर भी थोडे-बहुत चेते, फिर ज्यों के त्यों!'

'मेरा नाम मैदान है। और अब मैं समझता हूँ, कि खुदा ने मुझे सपाट क्यों बनाया है। सुनता हूँ कि जैसी ये काँफ्रेंसें हुईं, वैसी ही

मुझ पर नुमाइशें भी होती रहीं होंगी। चार सौ वर्ष पहले यहाँ मीना बाजार लगता था, अब सिर्फ कभी भूले-भटके स्वदेशी नुमाइश होती रही थी। आजकल 'युद्ध-प्रदर्शनी'—जिसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता।'

'सुनता हूँ किसी जमाने में मैं मैदान नहीं था, कब्रिस्तान था। हो सकता है। पर आज साहब, मैं पूरा तीन-तीन सौ गज लम्बा-चौड़ा मैदान हूँ। मुझ पर मजहबी और बे-मजहबी कांफ्रेंसें होती हैं, कभी आत्मनिर्णय मेरे हक में धार्मिक होता है, कभी सांस्कृतिक ('संस्कृति' बड़ा खतरनाक शब्द है, क्योंकि कभी इसमें 'धर्म' शामिल रहता है, कभी इससे तलाक दे देता है।)—और मैं ज्यों का त्यों पड़ा हूँ—जनता के मन की तरह मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चाहे हिन्दू पाँव हों, चाहे मुस्लिम, चाहे मजदूरों के पाँव हों, चाहे उनके मालिकों के (मन के नेताओं के)—मेरे लिए तो सभी एकसे कुचलने वाले, एकसे रौंदने वाले, एकसी ही लताड़ बताने वाले हैं, क्योंकि मैं एक मैदान हूँ।

१९४४ }

---

*

जंगजू मिट जायँगे

ई० पूर्व १४६६ से १६३० ईस्वी तक, केवल २८७ वर्ष शान्ति के बीते, ३११२ वर्ष युद्ध से अभिशप्त रहे। बुखारेस्ट यूनिवर्सिटी के प्रो पेला के अनुसार १५०० ई० पू० से १८२० ईस्वी तक करीब आठ हजार ऐसी संधियां हुई जो जब वे की जाती तब अक्षय और अपरिवर्तनीय मानी जाती थीं, मगर सचमुच में उन सब की औसत आयु २ वर्ष से अधिक न थी।

१६१८ से अब तक यौरुप में १७०० बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई, जिनमें सर्वाधिक फ्रांस, फिर आस्ट्रिया, हंगरी, फिर ग्रेट ब्रिटन और प्रशा इस क्रम से युद्धमान राष्ट्र रहे। इस काल के बीच में फ्रांस अकेला तिरहत्तर वर्ष तक ग्रेट ब्रिटेन से लड़ता रहा, अस्सी बरस तक प्रशा और जर्मन साम्राज्य से और स्पेन से बाँसठ वर्ष। सब से लम्बी लड़ाई यौरुप में १३३७ में इङ्गलैंड और फ्रांस के बीच सौ वर्षों का युद्ध नाम से प्रसिद्ध है; सबसे छोटी लड़ाई १८४६ में आस्ट्रिया और सार्डीनिया के बीच छः दिन की।

बारहवीं–तेरहवीं सदी में रूस, १४ वीं में इङ्गलैंड, १५ वीं से १८ वीं तक आस्ट्रिया [होली रोमन एम्पायर] १६ वीं सदी में फ्रांस और २० वीं में जर्मनी सर्वाधिक लड़ता रहा।

१६१८-४८ में लड़ी गई तीस बरस की लड़ाई में सिर्फ १५,००० आदमी थे। १८ वीं सदी में ४०,००० आदमी लड़ाइयों में निमग्न थे। नेपोलियाँ से की गई लड़ाई में ८०,००० और रूस-जापान युद्ध में एक लाख। १८१३ की लाइप्जिग की लड़ाई में पाँच लाख लोग थे और गत महायुद्ध और इस युद्ध का तो क्या कहना? यह तो भूगोल-युद्ध या संकुल-युद्ध है न!

१४ के युद्ध में इटली के मोर्चों पर ४० मील तक फैली ४८४० तोपों ने सोलह दिन में ३०० लाख फायर किये, जिनकी कुल कीमत थी ३ करोड़ से ऊपर। धुआँ और आग दुश्मन पर फेकने का सबसे पहिला प्रयोग ग्यारहवीं सदी में चीनियों ने कियो। मुगलों द्वारा १३ वीं सदी में यह साधन यौरुप में आया। परन्तु रासायनिक-युद्ध का सच्चा आरम्भ गत महायुद्ध में ही हुआ। तीन हजार ढंग के रसायन प्रयोग शालाओं में और युद्ध भूमि पर काम में लाये गये जिनमें से बारह केवल सफल हुए। १९३५-३७ के इटली-अबीसीनिया-युद्ध में इटली ने विषैली वायु का सर्व प्रथम प्रयोग किया। जापानियो ने चीन मे, ३८-३९ में विषैली वायु का प्रयोग किया। १२३० ईस्वी में मुगल नेता कुब्ला-खान ने हाथ से फेकने योग्य बम प्रयुक्त किये। १२४७ में बारूद का अन्वेषण हुआ। १३४६ मे सबसे पहिले युद्ध में बारूद का उपयोग किया गया। १८८२ तक बिना धूएँ की बारूद का अन्वेषण नही हुआ था। जर्मन दूरमार तोपे [बिगबर्था नामक] गत महायुद्ध में पच्चीस मील ऊँचाई और अस्सी मील लम्बाई पर ३०० फायर कर सकती थी। प्रति सैकिंड ५००० फीट जाने वाला ३३० पौंड वजन का गोला उस तोप से छूटता था। सोलह इंची 'शेल' का स्फोट, एक ककरीट की दीवार पर साठ मील फी घन्टा जाने वाले चार इंजिन टूट कर गिरने के समान होता है। तीस मील लम्बी तोप अमरीका के पास है।

अमरीकन गृह-युद्ध (१८६१-६५) में ४० लाख फौज निमग्न थी, जिनमें उत्तरी अमरीका के करीब तीन लाख और दक्षिण के पाँच लाख सिपाही काम आये। इस युद्ध का खर्च था करीबन ७४ करोड़ पौंड। क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) का खर्च ३० करोड़ ५० लाख पौंड था। १८५७ का गदर और १८६० की चीनी लड़ाई प्रत्येक में ५२ हजार प्राण हानि हुई। १८७०-७१ के फ्रांस-प्रशा के युद्ध में पचास करोड़ साठ लाख पौंड खर्च हुए; स्पेन-अमरीकन-युद्ध (१८९८) में प्रति

दिन अमरीका का ५ करोड पौंड और स्पेन का ३५००० पौंड व्यय हुआ। १९१४-१८ के गत महायुद्ध की कीमत करीब्रन ८०० करोड़ पौंड थी। यह हिसाब डॉ-निकोलस बटलर ने लगाया है। एक करोड सिपाही मारे गये, दो करोड जख्मी हुए, और युद्ध के बाद के एन्लुएंजा में १ करोड़ मरे। सात करोड लोग इस युद्ध में निमग्न थे।

१९३५-३६ में इटली ने अबीसीनिया युद्ध के लिये ३५ लाख आदमी, ५३० लाख फीट तम्बू का कैन्वास, ६२० लाख फीट चुना हुआ कपडा, ८७ हजार घोडे और खच्चर, १३५ लाख मोटर वाहन, ११,५०० मशीनगन, ४,५०,००० राइफलें, ८०० तोपें और ३०० टैंक भेजे। २१५ डबलरोटी की भट्टियाँ, ५५०० टेलीफोन (२ हजार मील तार के साथ), १०८१ बेतार के यन्त्र, ५४ हवाई अड्डे, १०,९९५ पानी और ईंधन के हौज काम आये। ६३७ हवाई जहाजों से १ हजार टन बम बरसाये गये। मशीनगनों से १,५५,००० बारूद के फायर किये गये। ४६ टन अन्न हवाई जहाजों द्वारा आगे भेजा गया।

युद्ध के नारे : यूनानियो के नारे 'अलाला, अलाला थे, जोकि १९२२ में इटली के फाशिस्तों ने प्रयुक्त किया, रोमन लोग 'फरी, फेरी' [जोर से मरो ! जोर से प्रहार करो] का नारा देते थे। ईसाई पूर्वी रोमन 'क्रोस्टी बोइ थी' क्रूसेडर्स का नारा 'अज्जुवा दियूस' था। रूसी तातारों का नारा 'हुर्राह-हुर्राह, लगाते थे [जिसका अर्थ होता है मारो, मारो !!] अंग्रेज 'सेंट जार्ज फार इङ्गलैंड', 'फराँसीसी 'आँ आँवांत्' [आगे बढो]; स्पेनवासी 'सैन हयागां !' और तुर्क 'अल्लाह असमीद' का नारा लगाते हैं।

मगर नारे हैं, कि वे युद्ध रोकने में अक्षम साबित हुये है। शा, रसेल, वेल्स जैसे पक्के शाँततावादी भी इस युद्ध में, युद्ध की ओर से बोलने लगे, यह इस संकुल भूगोल युद्ध की विशेषता है। यही जादू है, कि जो सिर पर चढ़ कर बोलता है।

१९३९ }

प्रकाशक से साबका

जब श्री युद्ध से लौटा था तभी उसने सोचा, कि कुछ व्यवसाय किया जाय। पर कौनसा व्यवसाय था जिसमें बिना पूँजी के शुरुआत की जा सकती थी।

किसी ने सुझाया—ऐसा व्यवसाय है लिखना। साहित्य लिखना.

सो अपनी थोड़ी-बहुत विज्ञान और प्रवास और भाषा की जानकारी के सहारे वह एक दिन शहर के नामी गिरामी और टुटपुँजिये सभी तरह की किताबें छापने वालों के पास पहुँचा।

सबसे पहले वह अपने मित्र हरीश की मारफत वहाँ पहुँचा। तो प्रकाशक नम्बर एक ने बड़ी आवभगत की। रसगुल्ले और नमकीन के साथ लम्बी-चौड़ी चाय पिलाई और एकदम बढ़िया अंग्रेजी में बोले—हमारा इरादा, जी, फर्स्टक्लास साइको-ऐनालिसिस पर किताबों की सीरीज़ निकालने का है। आप जानते ही हैं, कि आज वर्ल्ड में न्यूरोसिस हो गया है।

श्री कुछ समझा, कुछ नहीं समझा और धीमे से बोला—हो सकता है!

नम्बर एक बोले—और बाकी बिजिनेस वाला मामला जो है जी, वह हमारे भाई कुलवन्त बता देंगे।

कुलवन्त जी सिर्फ मुस्कुरा दिये। उन्होंने कहा—गोपाल ढंढा जी ने हमें ऐसी किताब दी है, कि दस हजार का पहला एडीशन तो आर्मी में चला जायगा।

श्री ने नम्रता पूर्वक कहा—वह तो सरकारी महकमा है और वहाँ काफी जाँच परख के बाद ही तो...

बात काटकर कुलवन्त बोले—ओ हो ऽ ! आप कहाँ की जाँच-परख लेकर बैठे हैं जी ! वह तो अपने हाथ की बात है। किताबें जिस सेंक्शनिंग आथारिटी की मारफत जानी हैं, वह ढंढा जी का दोस्त है।

दस महीने बाद जब श्री कुलवन्त जी से मिला तो पता चला था, कि ढंढा जी ने यों ही डींग हाँककर अपने रुपये सीधे कर लिये थे। काहे की आर्मी और कहाँ की बिक्री ? पर उससे उस्ताद एक कवि का किस्सा सुना, कि वे हैदराबाद की पुलिस-एक्शन या पता नहीं किस विषय पर एक महाकाव्य लिखकर उस पर एक बड़े अधिकारी की—शायद सेना के भूतपूर्व अधिकारी की भूमिका लिखा लाये, और प्रकाशक से रुपया ऐंठकर रवाना हो गये। श्री को बाद में एक और लेखक मिले। उन्होंने प्रामाणिकता से अपना 'कन्फ़ेशन' दिया—दोस्त ! जब तक हम दयानतदारी से चलते थे, भूखे मरते रहे। बाद में किसी प्रदेश के बोर्ड पर—विज्ञान या इतिहास या साहित्य के पाठ्यक्रम के लिए पुस्तकें चुनने वाले बोर्ड पर हमने अपने आप को नियुक्त करा लिया और जो प्रकाशक आवे उससे कैश धरा लेते थे—जी हाँ, हरेक को मीठे-मीठे आश्वासन दे देते हैं। बचने कि दरिद्रता। हर आदमी से कहते थे—आप ही की पुस्तक हम कोर्स में लगा देंगे, पर उसमें अमुक मुश्किल है। उसे हल करने के लिए इतने और पेशगी देने होंगे। इत्यादि-इत्यादि।

इस प्रकार से धीरे-धीरे श्री ने प्रकाशन में आगे बढ़ने के हथकण्डे और 'गुर' सीखे। पर कहीं-न-कहीं बेसिक भलमनसाहत तो होती ही है। श्री बेचारे में वह शेष थी। एक दिन वह एक रेफ़्यूजी प्रकाशक के चंगुल में फँस गया।

अपनी कुछ कहानियाँ या छोटा उपन्यास लेकर वह उनके पास

पहुँचा। वह बोले —सुनिये जी ! हम तो लाहौर में मटन का और बटर का बेपार करते रहे; मगर यहाँ सुना है, कि हिन्दी किताब में बड़ा रुपया है। थोड़ी सी रिश्वत खिलानी पड़ती है। मगर ये 'आलूचना' बहुत अच्छी बिकती है। बेचारे कालेज के मास्टर लोग गरीबी में रहते हैं। उनकी भी हम कुछ 'सेवा' कर देते हैं और किताब आलूचना की बड़ी जल्दी में और सस्ते में मिल जाती है। हमारे 'प्रूफरीडर' यानी लिटरेरी एडवाइजर (साहित्यिक परामर्शदाता) बड़े पण्डत हैं। विदवान हैं ! पंजाब से उन्होंने परभाकर पास की है, और संसकिरित भी जानते हैं, गुरुकुल में कुछ महीने थे। ओ हो !, अँगरेजी नही जानते; तो उसकी क्या इत्ती पड़ी है—अँगरेज तो यिहाँ से चले ही गये ! सो आप की किताब उन्हे दिखा दी जायगी।—अगर जँच गयी, कोर्स में हो सकी, तो बस आप को बराबर हम साल मे सौ रुपया देते जायँगे—आप को ऐतबार नहीं तो मनमोहन जी से पूछ लीजिये। उन्होंने तो सेक्स से लगाकर परगतिवाद पर सब तरह की किताबें हमारे लिए लिक्खी हैं।

श्री ने कहा—इस तरह का हरफन मौला मैं नहीं हूँ। मैं लेखक को बढ़ई नही मानता, कि आपने कहा—कुर्सी, तो कुर्सी बना दी और आपने कहा आलमारी तो आलमारी।

प्रकाशक नम्बर दो ने उनसे कहा—नमस्ते !

एक तीसरे और जबरदस्त प्रकाशक मिले। वे स्वयं किंचित्-साहित्यिक थे और थे सरकारी नौकर। और सरकारी नौकर अन्य व्यवसाय तो नहीं कर सकते थे इसलिए पत्नी के नाम पर उन्होंने प्रकाशन-गृह खोल रखा था। व्यवहार की जबानी बातचीत वे ही करते थे। पहले तो श्री को उनसे बड़ा लम्बा-चौड़ा उपदेश सुनना पडा:—

"सुनिये क्या—आप का—नाम—है श्री श्री; साहित्य में सफलता बड़ी तपस्या और साधना के बाद मिलती है। अब मुझे ही देखिये, मैंने क्या-क्या कबाड़ नहीं किये—फिल्मी दुनिया की खाक मैंने छानी, रेडियो

के लिए मैंने लिखा; मेरी कविताएँ अब माँगने को आते है सम्पादक लोग, पर पहले यह बात नही थी। समझे जनाब, बडी ही उग्र और घोर साधना मुझे करनी पडी।"

एक और सज्जन उनके पास बैठे थे। उन्होंने परिहास किया—"सुना आप की पाँच पत्नियाँ थीं। क्या यह भी उसी साधना का ही एक भाग है?"

"आप समझते नही?" डपट कर वे बोले—"मै एक नवीन लेखक को सफलता का मार्ग बतला रहा हूँ। साहित्य हँसी खेल नही है। पाँच प्रेमिकाएँ या तीन पत्नियाँ रखना आप जानते हैं—हम लेखक वर्ग को विविध प्रकार के जीवनानुभव-प्राप्ति के लिए आवश्यक होता ही है। अब यह है, कि मैंने उसकी तरकीब निकाल ली है। मै एक अंग्रेजी के किसी आवस्यूअर आथर का नाटक या उपन्यास उठाता हूँ। उसमें से ३६५ वें सफे पर से अगर मै चार डायलाग उतार लू या उडा लूँ तो आप कैसे समझेंगे? फिर मै तुरन्त उसे पजाबी में अनुवाद कर लेता हूँ। उस पर से हमारे दोस्त हबीब या अलीम उर्दू लिखावट में उसे अदा कर देते है और बाद में आप तो जानते ही है, कि कहानी की भाषा में उर्दू हिन्दी में कोई अन्तर है ही नहीं—सो उसी को हिन्दी लिखावट में भी हम लिख दे तो क्या मुश्किल है? हाँ जी, एकाध मुश्किल अलफ़ाज़ का सस्कृत तजुर्मा कर देने से काम पूरा हो जाता है! अनुवादक का नाम किताब पर मैं नहीं देता!!"

श्री मुँह बाये इस विशाल अनुवाद प्रक्रिया को देखता-सुनता रहा। पर वे सज्जन अपने उपदेश देते ही जा रहे थे—"सुनिये आप चाहे बी० ए० हों या एम० ए०; डिग्री से कुछ नहीं होता, जनाब! रसूख चाहिए रसूख!! आप मेरी नई कविता सुनेंगे—अतुकांत है। सुनाने में सिर्फ एक घटा लगेगा! इसमें मैंने अपनी सारी बढ़िया से बढिया फिलासफी उतार कर रख दी है। समझे मिस्टर! तो असल में बात

यह है, कि पहले आप को अपनी पर्सनेलिटी बनानी होगी। आप दाढ़ी भी रख सकते हैं। या चाहें तो मंकी कैप पहन सकते हैं। या टैक्सी ड्राइवरों वाली चिपटी टोपी! येन केन प्रकारेण जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का पूरा यत्न कीजिये। बाद में देखा जायगा। साहित्य सर्जन? वह तो आप से आप हो जायगा। दो चार चेले जमा कर लीजिये। वे आप के लिये लिखेंगे और उपकार मानेंगे। समझे साहब...!"

श्री ने घड़ी की ओर देखा और कहा—"अच्छा आचार्य जी! मैं नमस्कार करता हूँ!" और वह उठने को हुआ तब उन्होंने पूछा—"आप एक पान तो खाते जाइये!" और जब तक नौकर से पान लाने के लिए कहा, एक और सदुपदेश का लम्बा लेक्चर—"आप अध्ययन-शील युवक हैं। यह तो मैं नहीं कहूँगा, कि आप में प्रतिभा है, पर हाँ यह कहा जा सकता है, कि बहुत कुछ आपने पढा लिखा है। तो आपको चाहिये, कि आप एक रास्ता पकड़ लें, उस पर चलें। जैसे टेक्स्ट-बुक हैं। आप ये अच्छी तरह लिख सकते हैं। हमारे मित्र डाक्टर अमुक-अमुक ने इसी के सहारे एक मकान बना लिया। पर इसके लिये आप को पहला नियम यह अन्टी में बाँधना होगा, कि आप किसी पक्ष के नहीं हैं। यानी आपका कोई वाद नही है।"

"क्या आप बिन पेंद के लोटे की तरह मुझे बनने को कहते हैं?"

"मेरे कथन का आशय यह कदापि नहीं है। पर आप सबसे मीठा बोलिये। कभी किसी साहित्यिक बुजुर्ग का कोई दोष न बतलाइये। सबसे सस्मित बात-चीत कीजिये।" इतने में अच्छा हुआ, कि पान आ गये और प्रकाशक नम्बर तीन से श्री का जल्दी ही छुटकारा हुआ।

प्रकाशक नम्बर चार का अनुभव और भी रोचक सिद्ध हुआ। उन्होंने बड़ी आवभगत की। मीठी-मीठी बातें की। श्री की पांडुलिपि रख ली और छः महीने तक उस बात को भूल गये। बाद में अपने

एक 'टाउट (दल्लाल) की मारफत कहलवा दिया, कि ये चीज़ें तो हमारे काम की नहीं हैं। और देखते क्या है, कि पांडुलिपि जो लौट कर आई तो उसमें कई लेखादि गायब थे !

श्री इस तरह से इस क्षेत्र से निराश हो गया। युद्ध के बाद सन् ४५ में हिन्दी में केवल बिक रहे थे या तो भावुकतापूर्ण शरच्चन्द्र की छटा लिये हुये उपन्यास, या विद्यार्थियोपयोगी आलोचना—परीक्षायें पास होने के सस्ते नुस्खे। श्री दोनों ही नहीं लिख सकता था। वह इस लेखक बनने की क्षणिक महत्वाकांक्षा से विरक्त हो गया।